उपनिषदों की कथाएँ

लेखक
इलाचन्द्र जोशी

प्रकाशक
हिन्दी विश्व-भारती कार्यालय
चारबाग़ : : लखनऊ

मुद्रक

पं० भृगुराज भार्गव

भार्गव-प्रिंटिंग-वर्क्स, लखनऊ

भूमिका

अणु-बम के इस युग में उपनिषदों का अणु-तत्त्व सर्वध्वंसी विज्ञान द्वारा फैलाये गये राजनीतिक अज्ञान के अंधकार के बीच निखिल कल्याणकारी पथ-प्रदर्शन के लिये अकलुष-उज्ज्वल प्रदीप सिद्ध हो सकता है, इस आशा से उपनिषदों की कथाओं का वर्तमान संकलन तैयार किया गया है। महायुद्ध के बाद जो विश्वव्यापी अव्यवस्था अन्तर-राष्ट्रीय तथा अन्तर्वैयक्तिक जगत् में वर्षाकाल की नमी से भरे पहाड़ी कुहरे की तरह छायी हुई है उसके कारण मानव के भीतर की विश्वास की भावना जैसे सील खा गई है। एक ओर साम्राज्यवादी राष्ट्रों की पारस्परिक छीना-झपटी और परंपरागत स्वार्थान्धता की मनोवृत्ति घटने के बजाय बढ़कर चरम सीमा को पहुँच गई है, दूसरी ओर विश्व-विघाती अणु-बम आविष्कृत हो उठा है। फलस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय जगत् का व्यक्तिगत मानव इस क़दर आतंकित और भ्रांत हो उठा है कि उसकी मन की आँखों में चर्बी छा गई है और उसे चारों ओर जड़-विज्ञान के सामूहिक संहारक रूप और त्रिराष्ट्रों के राजनीतिक

कूट चक्रों की भौतिक लीला के अतिरिक्त और कुछ दिखायी ही नहीं देता। उसके परे भी विश्व में कुछ और है, जो बराबर वर्तमान रहा है और बराबर रहेगा, इस परम सत्य को उसमें न तो देख सकने की शक्ति शेष रह गई है, न उसकी कल्पना कर सकने की। ऐसी दशा में उपनिषदों का ज्ञान अन्तःकरण की दृष्टि को पैनी करने और सूक्ष्म सत्य को ग्रहण करने की शक्ति को बढ़ाने के लिये अत्यंत सहायक सिद्ध होगा, ऐसी आशा की जा सकती है।

कुछ संकीर्ण मनोवृत्ति और संकुचित बुद्धिवाले 'युगपंथियों' में यह भ्रम फैला हुआ है कि उपनिषदों में पौराणिक विश्वासों और प्रतिक्रियावादी धार्मिक भावनाओं का प्रचार किया गया है। वर्तमान कहानियों के संकलन से उन लोगों का यह नितांत मूर्खता-पूर्ण भ्रम मिट जायगा, ऐसा हमारा विश्वास है। वास्तव में उप-निषदों में जिस सूक्ष्म और गहन और साथ ही उदार और सार्व-भौमिक तत्त्व का प्रचार किया गया है वह धर्म-अधर्म और पाप-पुण्य से एकदम परे है। धार्मिक ढोंग से भरे लौकिक (और वैदिक) कृत्यों की जैसी निन्दा उपनिषदों में की गई है वैसी आजकल के घोर नास्तिक भी नहीं करते। उपनिषदों का ज्ञान पूर्ण वास्तविकता और ठोस वैज्ञानिक सत्यों के आधार पर प्रतिष्ठित है। अंतर केवल यह है कि आधुनिक पाश्चात्य विज्ञान का लक्ष्य कोरे भौतिक और पार्थिव सत्यों की जड़ खोदना है और औपनिषदिक विज्ञान समस्त पार्थिव, नैतिक, मनोवैज्ञानिक तथा बौद्धिक सत्यों के विश्लेषण द्वारा उन सबके मूल में निहित एकमात्र आध्यात्मिक

सत्य की जड़ खोदता है। भौतिक विज्ञान अणु में विस्फोट उत्पन्न करके विश्व-विनाशी दानवी शक्तियों को उच्छृंखल रूप से मुक्त कर देता है और उपनिषदों का आध्यात्मिक विज्ञान अणु के भी अणु के भीतर वर्तमान मूल बीज-तत्त्व में विस्फोट उत्पन्न करके निखिल मंगलकारी शक्तियों की चिदानन्दमयी मुक्त लीला का रहस्य उद्घाटित करता है। अणु-बम 'सायन्स' की खोजों का चरम फल है और उपनिषदों का अणु-तत्त्व 'सुपर-सायन्स' (अति-विज्ञान) की अन्वेषणा का परम परिणाम है। आधुनिक जड़-विज्ञान का अंतिम ध्येय है रुद्र के सर्वध्वंसी वाम मुख की ऐकान्तिक उपासना, और उपनिषदों के दिव्य ज्ञान का अंतिम लक्ष्य है रुद्र के निखिल-संरक्षक दक्षिण मुख की चरम आराधना—

रुद्र यत्ते दक्षिणं मुखं तेन मां पाहि नित्यम्।

"हे रुद्र, तेरा जो दक्षिण मुख है उससे नित्य हमारी रक्षा कर।"

उपनिषदों की वर्तमान कथाओं के भीतर समस्त उपनिषदों का निचोड़ आ जावे, और साथ ही वह निचोड़ आसानी से सभी प्रकार के पाठकों के गलों के नीचे उतर जावे, इस बात की चेष्टा की गई है।

प्रयाग
१०—१०—४५

इलाचन्द्र जोशी

कथा-क्रम

देवताओं का दर्प-भंग

एक बार देवताओं ने ब्रह्म की महिमा से असुरों के ऊपर विजय प्राप्त की। जिस प्रकार आग के आगे सब पतिंगे नष्ट हो जाते हैं उसी प्रकार देवताओं के आगे सब असुर विनाश को प्राप्त हो गये। पर वह आग देवताओं ने स्वयं अपने ही से प्राप्त नहीं की थी। जिस प्रकार आग से तपाया हुआ लोहे का गोला तिनकों और कपड़ों को जलाने में समर्थ होता है उसी प्रकार ब्रह्मरूपी अग्नि से तपे हुए वे देवता असुरों को भस्म करने में समर्थ हुए थे। यदि लोहा आग से तपा हुआ न होने पर किसी भी वस्तु को जलाने में समर्थ नहीं होता उसी प्रकार यदि देवतागण ब्रह्मरूपी अग्नि से न तपे होते तो वे स्वयं अपनी शक्ति से असुरों का क्षय करने में कभी समर्थ न हुए होते।

पर देवताओं ने इस परम सत्य को नहीं समझा। वह यह बात भूल गए कि समस्त सृष्टि के मूल में निहित आदि शक्ति की प्रेरणा से ही उन्हें बल प्राप्त हुआ और वृथा अभिमान करने लगे कि "इस विजय के कारण

हम ही हैं, हमने अपनी ही महिमा से, अपनी ही शक्ति के प्रभाव से असुरों को जीता है।"

ब्रह्म ने जब देवताओं की वह भ्रांति देखी और उन्हें अज्ञान के मोह और मद में चूर पाया, तो उसने विचारा कि उन लोगों की आँखें खोलनी चाहिये, और उनका वृथा गर्व नष्ट करना चाहिये।

यह विचार कर उसने यक्ष का रूप धारण किया और देवताओं के निकट पहुँचा। उस अलौकिक तेज से युक्त यक्ष को देखकर सब देवता चकित रह गए। "यह कौन है? यह कौन है?" कहकर आपस में कानाफूसी करने लगे। उसके निकट जाने का साहस किसी को नहीं होता था, क्योंकि वैसा तेज-प्रतापशील, महामहिम रूप उन्होंने उसके पहले कहीं नहीं देखा था।

सब देवताओं ने अन्त में आपस में परामर्श किया कि किसको पहले उस आश्चर्यजनक रूप से युक्त यक्ष के पास भेजा जाय। यह निश्चय किया गया कि अग्नि ही इसके लिये उपयुक्त है इसलिये पहले उसी को भेजा जाय। सबने मिलकर अग्नि से कहा—"हे अग्ने! तुम इस यक्ष के पास जाओ और इस बात का पता लगाओ कि वह कौन है, यहाँ क्यों आया है, वह हमारे पक्ष का है या कोई विपक्षी है।"

अग्नि ने कहा—"अच्छी बात है, मैं जाकर पता लगाता हूँ।"

ऐसा कहकर अग्निदेवता उस यक्ष के निकट गया। यक्ष ने उसे देखकर प्रश्न किया—"तुम कौन हो?"

अग्नि ने बड़े अभिमान के साथ इस प्रश्न का उत्तर

देते हुए कहा—"मैं अग्नि हूँ, मैं परम ज्ञानी जातवेदा हूँ।"

यक्ष ने पूछा—"तुम्हारी विशेषता क्या है? तुममें क्या शक्ति है?"

अग्नि ने उत्तर दिया—"इस पृथ्वी में जो कुछ भी पदार्थ वर्तमान है उसे मैं जलाकर भस्म कर सकता हूँ।"

यक्ष ने जब अग्नि की वह अभिमान भरी बात सुनी तो वह मन्द-मन्द मुस्कराया और उसके आगे एक सूखा हुआ तिनका बढ़ाता हुआ बोला—"इसे जलाओ।"

अग्निदेवता ने उस तिनके को जलाने की बहुत चेष्टा की, पर वह किसी प्रकार भी जलाने में समर्थ नहीं हुआ। अपनी असमर्थता देखकर उसे अत्यंत लज्जा हुई। वह खिसियाया हुआ देवताओं के पास लौट आया और बोला—"मैं तो नहीं जान पाया कि यह यक्ष कौन है।"

तब देवताओं ने वायु से कहा—"तुम जाकर पता लगाओ कि यह यक्ष कौन है और यहाँ किसलिये आया है।"

वायु ने कहा—"अच्छी बात है। मैं जाकर पता लगाता हूँ।"

यह कहकर वायु उस यक्ष के पास गया। यक्ष ने उससे प्रश्न किया—"तुम कौन हो?"

"मैं वायु हूँ, मैं शून्य में विचरण करनेवाला मातरिश्वा हूँ।"

यक्ष ने पूछा—"तुम्हारी क्या विशेषता है? कौन-सा विशेष पराक्रम तुममें है?"

वायु ने उत्तर दिया—"इस पृथ्वी में जो कुछ है, मैं उसे उड़ाकर आकाश में ले जा सकता हूँ।"

यक्ष ने जब उसकी इस प्रकार की दर्पभरी बात सुनी तो उसने उसके आगे एक हलका-सा तिनका रख दिया और कहा—"इसे उड़ाओ तो जानें।"

वायु ने बहुत चेष्टा की, पर वह उस तिनके को अपने स्थान से तनिक भी हिलाने-डुलाने में समर्थ नहीं हुआ। अत्यंत लज्जित होकर वह देवताओं के पास लौट चला और बोला—"मैं नहीं जान सका कि यह यक्ष कौन है।"

देवताओं ने जब वायु को भी विफल पाया तो उन्होंने इन्द्र से प्रार्थना करते हुये कहा—"हे इन्द्र! तुम ही हम सबमें अधिक प्रतापशाली हो, इसलिये इस अद्भुत तेजशील यक्ष के पास तुम ही जाओ और इस बात का पता लगाओ कि वह कौन है।"

देवताओं ने जब इस तरह की प्रार्थना की तो इन्द्र ने कहा—"अच्छी बात है। मैं जाकर निश्चय ही इस बात का पता लगाकर आता हूँ कि यह यक्ष कौन है, वह यहाँ क्यों आया है और वह हम लोगों से क्या चाहता है।"

ऐसा कहकर वह बड़े अभिमान के साथ यक्ष के पास जाने के लिये आगे बढ़ा। इन्द्र को समीप आते देख यक्ष उसका गर्व चूर करने के उद्देश्य से उसके सामने से अन्तर्धान हो गया।

इन्द्र यह देखकर चकित रह गया और जिस ओर यक्ष अन्तर्धान हुआ था उसी ओर भौंचक्का-सा खड़ा

देखता रहा। सहसा उसने देखा कि सोने के उज्ज्वल आभूषणों से युक्त, अत्यंत तेजस्विनी और परम शोभायमान हैमवती ब्रह्मविद्या उसके सामने विराजमान है। इन्द्र अत्यंत श्रद्धापूर्वक उस तेजस्विनी के पास गया और बड़े आदर के साथ उसने प्रश्न किया—"यह जो तेजवान यक्ष अभी अन्तर्धान हुआ है वह कौन था?"

वह हैमवती ब्रह्मविद्या बोली—"यह यक्ष ब्रह्म था। उसी की महिमा से तुम लोगों ने असुरों पर विजय पाई है। उसके प्रभाव के बिना अपनी निजी शक्ति से तुम लोग कुछ भी करने में समर्थ नहीं हो सकते। तुम लोगों का जो वृथा अभिमान था कि स्वयं अपनी ही महिमा से तुम लोगों ने असुरों को जीता है उसी को मिटाने के लिये यह यक्ष आया था। तुमने देख लिया कि उसके प्रभाव के बिना अग्निदेवता एक सूखे तिनके को भी जलाने में समर्थ नहीं हो सका और वायु एक हलके-से तिनके को भी नहीं उड़ा सका।"

तब इन्द्र ने जाना कि वह यक्ष ब्रह्म था, और उनकी सारी शक्ति ब्रह्म की ही शक्ति के प्रभाव से बनी हुई है; एकमात्र ब्रह्म की शक्ति विश्व की सब शक्तियों के मूल में निहित है और वही सबको संचालित कर रही है।

यम और नचिकेता संवाद

एक बार श्रेष्ठ दानी तथा परम कीर्तिवान अरुण ऋषि के पुत्र उद्दालक मुनि ने विश्वजित् नामक यज्ञ करने का निश्चय किया। इस यज्ञ में यज्ञकर्ता अपना सर्वस्व दक्षिणा के रूप में दान कर देता है। उद्दालक मुनि ने भी यह निश्चय किया कि उनके पास धनरूप में जितनी भी गायें हैं उन सबको वह दान कर देंगे।

उद्दालक मुनि का एक पुत्र था, जिसका नाम नचिकेता था। नचिकेता यद्यपि अभी कुमार ही था—अर्थात् वह आयु में बहुत छोटा था—तथापि उसके भीतर सत्य के प्रति श्रद्धा थी और वह विचारशील था।

उसने जब देखा कि उसके पिता ऐसी बुड्ढी गायों को दक्षिणा के रूप में प्रदान करने जा रहे हैं जिनमें अब पानी पीने की भी शक्ति शेष नहीं रही, घास चबाने में भी जो समर्थ नहीं हैं, जो निःसत्त्व होने के कारण दूध नहीं देतीं, जिनकी इन्द्रियाँ अत्यंत क्षीण पड़ गई हैं। उसने मन में विचार किया कि जो व्यक्ति इस प्रकार की

गायों को दान करता है वह कभी यज्ञ का अच्छा फल प्राप्त नहीं कर सकता और मरने के बाद वह निश्चय ही ऐसे लोक में निवास पाता है जहाँ सुख नहीं प्राप्त हो सकता।

असल में बात यह हुई थी कि उद्दालक ऋषि ने पुत्र-स्नेह के वश होकर अच्छी-अच्छी गायें, जो हृष्टपुष्ट, दूध देनेवाली और गर्भधारण के योग्य थीं, छाँटकर नचिकेता के लिये रख लीं और शेष अशक्त और निःशक्त गायें यज्ञ में आए हुए ब्राह्मणों को दान में दे दीं। नचिकेता को अपने पिता की यह कृपण मनोवृत्ति पसंद नहीं आई। साथ ही उसे यह बात भी अच्छी नहीं लगी कि उसके पिता इस लोक में कम से कम खर्च करके परलोक में अधिक से अधिक पुण्य लूटना चाहते थे।

इस बात पर भली भाँति विचार करने के बाद उसने अपने पिता को सचेत करने के उद्देश्य से कहा—"पिताजी, आप मुझे किस ब्राह्मण को दान देने की बात सोच रहे हैं? क्योंकि जिस प्रकार ये गायें आपका धन हैं उसी प्रकार मैं भी तो आपका धन ही हूँ। विश्वजित् यज्ञ में सब धन दान कर दिया जाता है। इसलिये मुझे भी किसी न किसी को दानरूप में देने का विचार आपने अवश्य ही किया होगा।"

उसके पिता ने अपने पुत्र के इस धृष्टतापूर्ण प्रश्न का कोई उत्तर नहीं दिया, पर नचिकेता भी यों ही छोड़नेवाला नहीं था। उसने दूसरी बार भी वही प्रश्न किया। उसने सोचा था कि उसके पिता उसके अनुरोध के विरोध में कुछ कहेंगे तो वह अवसर पाकर अपने मन की असली बात उनके आगे प्रकट कर देगा। पर

उसके पिता ने दूसरी बार भी कोई उत्तर नहीं दिया। वह अपनी उपेक्षा द्वारा यह जता देना चाहते थे कि नचिकेता का प्रस्ताव इस हद तक अनुचित है कि उसका उत्तर देना भी पाप है।

जब नचिकेता ने तीसरी बार भी वही प्रश्न किया तो उद्दालक मुनि अत्यंत क्रुद्ध हो उठे। क्रोधवश उन्होंने कहा—"तुम जब बार-बार यही प्रश्न करते हो कि 'मुझे किसे दान में दोगे' तो अच्छी बात है, मेरा उत्तर सुन लो। मैं तुम्हें विवस्वान् के पुत्र मृत्यु अर्थात् यमराज को प्रदान करता हूँ।"

नचिकेता ने जब अपने पिता के मुँह से इस तरह की बात सुनी, तो उसने अपने मन में विचारा—"मैं सदा पिताजी के बहुत-से शिष्यों में प्रथम रहा हूँ। यह हो सकता है कि कभी-कभी मुझमें मध्यम श्रेणी के शिष्यों के गुण भी पाये जाते रहे हों, पर अधम मैं कभी नहीं रहा हूँ। तब पिताजी ने किस कारण मुझे यमराज के हाथ सौंपने की बात सोची? संभवतः उन्होंने क्रोध के आवेश में ही इस तरह की बात कही है, पर चाहे क्रोध में कहा हो चाहे प्रसन्न होकर, जब उन्होंने आज्ञा दी है तो उसका पालन मुझे अवश्य ही करना होगा। क्योंकि यदि मैं उनके वचन का पालन नहीं करूँगा तो उससे मेरी जो हीनता प्रकट होगी सो तो होगी ही, साथ ही पिताजी को भी अपने वचन के अन्यथा होने का दुःख होगा।"

ऐसा सोचकर नचिकेता ने यमराज के पास जाने का निश्चय किया। तब तक उद्दालक मुनि का क्रोध

शांत हो चुका था, और उन्हें अपनी बात पर पश्चात्ताप होने लगा था। उन्होंने जब देखा कि उनका प्रिय पुत्र सचमुच यम के यहाँ जाने की तैयारी कर रहा है तो उन्होंने उसे रोकने की पूरी चेष्टा की।

इस पर नचिकेता ने कहा—"पिताजी, आप ऐसे कुल में उत्पन्न हुए हैं जहाँ कभी किसी ने अपना वचन कभी भंग नहीं होने दिया। जो महापुरुष इस समय आपकी जानकारी में हैं, तनिक उनकी ओर देखिए। वह लोग कभी कोई झूठ बात मुँह से नहीं निकालते। इसलिये आप स्नेहवश मोह में न पड़िए और मुझे अपने वचन के अनुसार यमराज के पास जाने दीजिए। इसके अतिरिक्त मेरे यम के यहाँ जाने में कोई भय आपको क्यों हो! क्योंकि मृत्यु के बाद प्राणियों का पुनर्जन्म ठीक उसी प्रकार निश्चित है जिस प्रकार धान के पक जाने के बाद उसके सूखे बीजों से फिर नये धान पृथ्वी में उत्पन्न होकर लहलहाने लगते हैं।"

उद्दालक मुनि ने जब नचिकेता का यह भाषण सुना तो अत्यंत अनिच्छा से उन्होंने उसे यम के पास जाने की आज्ञा दे दी। अपने पिता के तपोबल के प्रभाव से नचिकेता स्थूल शरीर को लेकर जीवित अवस्था में ही यमपुरी पहुँच गया।

जब वह यमपुरी पहुँचा तो द्वारपाल ने उसे बताया कि यम कहीं गए हुए हैं। नचिकेता द्वार पर खड़े रहकर ही उनकी प्रतीक्षा करने लगा। यमराज के दासों ने उसके पास आकर कहा—"चलिए, भीतर बैठकर भोजन कीजिए। आप हमारे अतिथि हैं, और प्रभु की अनु-

परिस्थिति में किसी अतिथि का निरादर हो, यह हम लोगों के लिये किसी प्रकार भी उचित नहीं होगा।"

पर नचिकेता ने उनका अनुरोध नहीं माना और कहा कि जब तक यमराज नहीं लौटेंगे तब तक वह खाना नहीं खायेगा।

तीन दिन तक नचिकेता ने अन्न-जल ग्रहण नहीं किया। चौथे दिन यमराज लौटकर आए। उनके दासों ने उन्हें सूचना दी कि उनके द्वार पर एक तेजस्वी ब्राह्मण अतिथि बनकर आया हुआ है और तीन दिन से बिना कुछ खाये-पीये प्रतीक्षा में द्वार पर खड़ा है।

दासों ने कहा—"हे यमराज! साक्षात् अग्निदेव ही ब्राह्मण के रूप में अतिथि बनकर गृहस्थों के यहाँ आते हैं, और अर्घ्यजल आदि से उन्हें शांत किया जाता है। इसलिए आप भी इस तेजस्वी ब्राह्मण की आवभगत करके उसे शांत कीजिये। जिस मूढ़ बुद्धि के यहाँ ब्राह्मण अतिथि भूखा-प्यासा रह जाता है उसके इच्छित फल के मिलने की आशा, सत्संग का फल, मधुर और सत्य वाणी का फल, यज्ञ का फल, बाग लगाने का, कुआँ खोदने आदि का फल, पुत्र, धन और यश—सभी नष्ट हो जाते हैं। इसलिये अतिथि की सेवा अवश्य करनी चाहिये। आप यह जानकर नचिकेता का सत्कार कीजिये।"

यमराज यह सुनकर नचिकेता के पास गए और बोले—"हे ब्रह्मन्! तुम अतिथि हो, इसलिये मैं तुम्हें नमस्कार करता हूँ। मेरे यहाँ तुम तीन रात बिना अन्न-जल के रहे हो, इसलिये मैं अपने को दोषी मानकर तुमसे

क्षमा चाहता हूँ। तुम्हारे क्षमा करने से ही मेरा कल्याण होगा। तीन रात जो तुम भूखे रहे उसकी पूर्ति मैं इस रूप में करना चाहता हूँ कि तुम्हें तीन वर प्रदान करता हूँ। तीन वर तुम जिस रूप में चाहे, इच्छानुसार माँग लो।"

तब नचिकेता ने कहा—"हे मृत्युदेव! आप यदि सचमुच मुझ पर प्रसन्न हैं तो पहला वर मुझे यह दीजिये कि मेरे पिता गौतम ऋषि की, जो उद्दालक नाम से प्रसिद्ध हैं, यह चिंता दूर हो जाय कि मैं यमराज के यहाँ न जाने किस कष्ट में पड़ा हूँ। मेरे ऊपर से उनका क्रोध मिट जाये और वह प्रसन्नचित्त हो जायें। जब मैं आपके यहाँ से लौटकर घर जाऊँ तो वह मुझे पहचान लें और पहले की ही तरह स्नेहपूर्वक मेरा अभिवादन करें।"

यमराज बोले—"मैं तुम्हें यह वर देता हूँ कि तुम्हारी यह इच्छा पूरी होगी और जब तुम मृत्युलोक से लौटकर घर वापस जाओगे तो तुम्हारे पिता तुम्हारे ऊपर पहले के ही समान स्नेह रखेंगे और क्रोधरहित होकर तुम्हारे ऊपर प्रसन्न होंगे। साथ ही उनके मन से तुम्हारे संबंध की चिंता भी दूर हो जावेगी।

तब नचिकेता ने दूसरा वर माँगने की इच्छा से कहा—"हे यमराज! स्वर्गलोक में न रोग का कोई भय है न शोक का। वहाँ आप भी किसी को अपने (मृत्यु के) वश में नहीं कर सकते। वहाँ बुढ़ापे का भी कोई भय नहीं रहता। स्वर्ग में पहुँचा हुआ पुरुष भूख-प्यास को भी जीतकर सब प्रकार के मानसिक शोकों से रहित

होकर आनन्द में मग्न रहता है। हे मृत्युदेव! ऐसे महत्त्वपूर्ण स्वर्ग की प्राप्ति का साधन-रूप जो अग्नि है उसके तत्त्व से आप परिचित हैं, इसलिये मुझे आप उस तत्त्व को समझाइये, जिसके द्वारा स्वर्गलोक में निवास करनेवाले मनुष्य अमरता को प्राप्त होते हैं। यह दूसरा वर मैं आपसे माँगता हूँ।"

यमराज ने उत्तर दिया—"हे नचिकेता, यह अग्नि अत्यंत विराट रूप धारण किये हुए समस्त जगत् का आधार बना हुआ है। वह ज्ञानियों की बुद्धि रूपी गहन गुफा में निहित रहता है और ज्ञान का मूल आधार भी वही है। उसे तुम्हें अवश्य जानना चाहिये।"

इसके बाद यमराज ने अग्निविद्या का विस्तार के साथ वर्णन करके नचिकेता को उसका महत्त्व समझा दिया। नचिकेता जब समझ गया तो उसने यम की बताई हुई बातें ज्यों की त्यों दुहरा दीं। इससे यम को बड़ी प्रसन्नता हुई। और उसने पूर्वोक्त तीन वरों के अतिरिक्त एक वर और देते हुए कहा—"हे नचिकेता, मैं तुम्हारी तीक्ष्ण बुद्धि से प्रसन्न होकर तुम्हें यह वर भी देता हूँ कि स्वर्ग की साधनारूप अग्नि तुम्हारे नाम से 'नाचिकेता' कहलायेगी। इसके अतिरिक्त मैं तुम्हें मणियों की एक माला भी उपहार के रूप में देता हूँ, इसे तुम ग्रहण करो।"

नचिकेता ने मणियों की माला केवल इसलिये ग्रहण कर ली कि ग्रहण न करके वह यम का अनादर नहीं करना चाहता था। उसके बाद यम ने कहा—"हे सौम्य! अब तुम तीसरा वर माँगो।"

नचिकेता तीसरा वर माँगता हुआ बोला—"हे

यमराज ! जब मनुष्य मरता है तब उसकी क्या स्थिति होती है, इस संबंध में ज्ञानियों के मन में भी बराबर संदेह-बुद्धि पाई गई है। कोई कहते हैं कि शरीर नष्ट हो जाने पर भी आत्मा वर्तमान रहती है, और कुछ लोगों का कहना है शरीर, इन्द्रिय, मन और बुद्धि के अतिरिक्त आत्मा नाम के किसी भी तत्त्व का कोई अस्तित्व नहीं है। इस आत्मा का ज्ञान वास्तव में न तो किसी प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा प्राप्त हो सकता है न अनुमान द्वारा। और उसके ज्ञान के बिना परम पुरुषार्थ की प्राप्ति नहीं हो सकती। इसी कारण मैं तीसरा वर यह चाहता हूँ कि आप मुझे इस गूढ़ विषय की शिक्षा दें और आपकी दी हुई शिक्षा द्वारा मैं उस गहन ज्ञान को प्राप्त कर सकूँ।"

यम ने जब नचिकेता की इस तरह की प्रार्थना सुनी, तो उन्होंने पहले इस बात की परीक्षा लेनी चाही कि वह वास्तव में आत्मा-संबंधी ज्ञान का उपयुक्त पात्र है या नहीं। उन्होंने इसी उद्देश्य से कहा—"हे नचिकेता ! इस आत्मतत्त्व के संबंध में एक समय देवताओं को संदेह हुआ था, तब मनुष्यों के संबंध में कहना ही क्या है। यह आत्मतत्त्व वास्तव में अत्यंत सूक्ष्म है और सहज में जानने योग्य नहीं है।

"आत्म-ज्ञान-विषयक वर माँगकर तुम मुझे इस तरह जिच मत करो, जिस प्रकार कोई साहूकार किसी ऋण चुकाने में असमर्थ व्यक्ति को करता है। इस वर को मेरी इच्छा पर ही छोड़ दो।"

यम की इस तरह की बात सुनकर नचिकेता के मन में बड़ा दुःख और क्षोभ हुआ। उसने कहा—"हे धर्म-

राज! आप स्वयं कहते हैं कि यह विषय ऐसा है जिसके सम्बन्ध में देवता भी भ्रम में पड़ गए थे। इसलिये इस तत्त्व को जानने की उत्सुकता मेरे मन में और बढ़ गई है। मेरे भाग्य से आपके समान अद्वितीय ज्ञानी मुझे प्राप्त हो गए हैं, और आत्माविषयक ज्ञान से अधिक कल्याणकारी दूसरा कोई ज्ञान नहीं है। ऐसी दशा में मैं आपसे प्रार्थना करता हूँ कि आप मुझे अवश्य आत्म-तत्त्व से परिचित करावें।"

यम ने देखा कि नचिकेता का आग्रह सच्चा है और वह मन-ही-मन इस बात के लिये उसे सराहने लगे; पर फिर भी उसकी पूर्ण परीक्षा लेने के उद्देश्य से उन्होंने कहा—"हे सौम्य! तुम्हारी इस प्रार्थना को पूरा करना बहुत कठिन काम है। हम तुमसे अनुरोध करते हैं कि तुम कोई दूसरा वर माँग लो। सौ वर्ष की आयुवाले बेटे और पोते माँग लो; असंख्य गायें, हाथी, घोड़े आदि पशुओं को माँग लो; जितना धन-रत्न, सोना आदि चाहिये वह भी माँग लो; विशाल पृथ्वी का साम्राज्य माँग लो; और यदि तुम यह सोचो कि तुम्हारी आयु छोटी है, और अपार धनराशि तथा विशाल साम्राज्य का भोग करने के लिये दीर्घायु चाहिये, तो मैं तुम्हें यह वर देता हूँ कि तुम जितने वर्षों तक जीना चाहो, अपनी इच्छानुसार दीर्घ काल तक जीवित रहोगे। यदि तुम स्वर्ग की समस्त संपत्ति चाहते हो तो वह भी तुम्हें देने के लिये मैं तैयार हूँ। पर यह प्रश्न मत पूछो कि आत्मा का रहस्य क्या है।"

पर नचिकेता अपनी बात पर अड़ा रहा। उसने

कहा—"यह सब अपार धन-संपत्ति और ऐश्वर्य-भोग के सम्पूर्ण साधन लेकर मैं क्या करूँगा? ये सब अमूल्य पदार्थ नश्वर हैं, और इस बात का भी ठिकाना नहीं है कि ये सब कल तक भी स्थिर रह पावेंगे या नहीं। ऐश्वर्य की ये सब सामग्रियाँ मनुष्य के तेज को नष्ट करती हैं, हमें हीनबल बनाती हैं, उसके मन और मस्तिष्क की समस्त शक्तियों को क्षीण कर देती हैं। भोग से कभी किसी की तृप्ति नहीं होती। जितना सुख-भोग करते जाओ उतनी ही अधिक तृष्णा भी बढ़ती चली जाती है। और यह आत्मशोषी तृष्णा एक क्षण के लिये भी भोगार्थी मनुष्य को चैन नहीं लेने देती। और फिर एक-न-एक दिन भोग की अवधि अवश्य ही समाप्त हो जावेगी; चाहे आप कितनी ही दीर्घ आयु मुझे प्रदान करें। इसलिये यह सारी सम्पदा, ये सब हाथी, घोड़े, रथ, नाचनेवाली अप्सराएँ, धन-रत्न आप अपने ही पास रखें। मेरा चित्त इन सबकी ओर तनिक भी नहीं झुकता। आपके समान ब्रह्मज्ञानी को पाकर मैं यदि इन सब असार और अनित्य वस्तुओं को लेकर घर लौटूँ, तो मेरे समान मूर्ख भी कोई दूसरा न होगा। इसलिये आपसे आग्रह है कि आप उसी कठिन, निगूढ़ और सूक्ष्म आत्म-तत्त्व की शिक्षा मुझे दें। मेरा विश्वास है कि उसी से मेरा परम कल्याण होगा, अपार सम्पदा की प्राप्ति से कदापि नहीं।"

[२]

यम ने नचिकेता की जब इस प्रकार की दृढ़ता, मति-धीरता और भोग्य विषयों के प्रति अनासक्ति देखी, तो

वह अत्यंत विस्मित और साथ ही पुलकित हुए। उन्होंने हर्षित मन से नचिकेता को उपदेश देते हुए कहा—"मनुष्य के जीवन के विकास के लिये दो पथ हैं—एक श्रेय और दूसरा प्रेय। जो लोग सच्चे ज्ञान की प्राप्ति के लिये साधना करते हैं वे श्रेय-पथ को अपनाते हैं, और जो सांसारिक सुखों की इच्छा रखते हैं और सब समय पुत्र-पौत्र और धन-सम्पत्ति की प्राप्ति के लिये बेचैन रहते हैं वे प्रेय-पथ का अनुसरण करते हैं। ये दोनों मार्ग एक-दूसरे के विरोधी हैं। इन दोनों के फल भिन्न-भिन्न हैं। इनमें पहला मार्ग विद्या का आश्रय पकड़ता है और दूसरा मार्ग अविद्या से सम्बन्ध रखता है। जो पुरुष, अज्ञानी, मोह से घिरे हुए होते हैं, जिनके मन की आँखें अपने संकुचित स्वार्थ के परे कुछ भी देखने को समर्थ नहीं हैं, वे ही प्रेय को अपनाते हैं, और जो विवेकी पुरुष अपनी आत्मा के परम कल्याण की इच्छा रखते हैं वे श्रेय-मार्ग की साधना में रत रहते हैं।

"श्रेय और प्रेय दोनों ही पुरुष की इच्छा-शक्ति के अधीन हैं, पर दुर्बल इच्छाशक्तिवाले, इन्द्रिय-सुखार्थी, मंदबुद्धि व्यक्ति सांसारिक स्वार्थों से अपना मन मोड़ लेने में समर्थ नहीं होते। वे भोग-विलास के साधनों की प्राप्ति को ही जीवन का अंतिम लक्ष्य समझते हैं। पर ज्ञानी पुरुष अच्छे-बुरे की परख भली भाँति करके प्रेय के साथ जुड़े हुए श्रेय को ठीक उसी प्रकार अलग कर लेते हैं जिस प्रकार हंस पानी मिले दूध में से जल का अंश अलग कर लेता है और विशुद्ध दूध को अलग।

"हे नचिकेता! मैंने तुम्हारी परीक्षा लेने के लिये

बार-बार तुम्हें सांसारिक सुखों का लोभ दिखाया, तुम्हारे आगे नाना प्रकार के भोगों की सामग्रियाँ रख दीं। पर तुमने श्रेय और प्रेय दोनों की विशेषताओं को अच्छे प्रकार से समझकर प्रेय-विषयक पदार्थों से अपने मन को दूर रखा और दृढ़-चित्त होकर तुमने श्रेय-पथ को अपनाने का निश्चय किया। इससे तुम्हारी बुद्धि की श्रेष्ठता का पूरा परिचय मिलता है। जो विषयी पुरुष अविद्या रूपी अंधकार में मग्न रहना पसंद करते हैं, और धन-रत्न, पुत्र-पौत्र, यश और प्रसिद्धि की प्राप्ति के फेर में पड़कर भी यह समझते हैं कि वे महान् पंडित हैं। वे नाना प्रकार की तृष्णारूपी तरंगों से धक्के खाते हुए जीवन-भर अशांति के भँवर में डूबते-उतराते हैं। एक अंधा जिस प्रकार दूसरे अंधे को पथ सुझाता है उसी प्रकार वे झूठे पांडित्य के अभिमानी व्यक्ति स्वयं भी अज्ञान के गढ़े में गिरते हैं और अपने साथ के दूसरे लोगों को भी ले डूबते हैं।

"ऐसे लोग समझते हैं कि अच्छे-अच्छे भोज्य-पदार्थों को खाना, अच्छे-अच्छे पेय-पदार्थों को पीना, धन-रत्न का संग्रह करना और उसे अपनी संतान के लिये छोड़ जाना, यही सब परम पुरुषार्थ है। इंद्रियों की अनुभूति के परे भी कोई स्थायी चेतना है, जड़ शरीर के अतिरिक्त भी कोई अव्यक्त अनुभूति वर्तमान है, इस बात पर ऐसे मूढ़मति पुरुष विश्वास नहीं करते। आत्मा-संबंधी आलोचना को वे अभागे हँसी में उड़ा देने की चेष्टा करते रहते हैं। ऐसे लोग बार-बार जन्म-मरण के चक्कर में पड़कर अनन्त दुःखों को भोगते रहने में सुख का अनुभव करते हैं।

"संसार में अधिकतर ऐसे ही पुरुष पाए जाते हैं, जो प्रेय की प्राप्ति के पीछे पड़े रहते हैं। कारण यह है कि प्रेय का फल आरंभ में बहुत ही मीठा, सुखद और प्यारा लगता है। पर मोहवश अज्ञानी लोग यह नहीं देख पाते कि उसका स्वाद अंत में बहुत ही कड़वा होता है, और परिणाम विष के समान होता है। श्रेय की इच्छा करनेवाले व्यक्ति बहुत ही कम संख्या में होते हैं क्योंकि इसका फल आरंभ में बहुत ही कड़वा और दुःखद जान पड़ता है। पर परिणाम में वह अमृत के समान होता है, इस बात को बहुत ही कम लोग जान पाते हैं। हे नचिकेता! आत्मतत्त्व का ठीक-ठीक उपदेश देनेवाले गुरु का मिलना भी सहज नहीं है, क्योंकि यह विषय बहुत ही कठिन है। जब तक कोई परम प्रवीण, महाज्ञानी इस विद्या की शिक्षा न दे, तब तक इसकी सचाई से परिचित नहीं हुआ जा सकता। केवल तर्क से इस विषय को नहीं समझाया जा सकता। जिसके भीतर इस तत्त्व को जानने की सच्ची लगन होती है केवल वही श्रेष्ठ आचार्य के गूढ़ उपदेशों से लाभ उठा सकता है। मुझे यह जानकर बड़ी प्रसन्नता हुई है कि तुम्हारे मन में आत्मा-सम्बन्धी ज्ञान प्राप्त करने की सच्ची लगन वर्तमान है।

"हे प्रियदर्शन नचिकेता! मेरी यह बात तुम गाँठ बाँध लो कि अनित्य और शीघ्र ही नाश को प्राप्त होने-वाले विषयों की इच्छा मन में होने से आत्मज्ञान नहीं प्राप्त हो सकता। मैंने अनंत ऐश्वर्य, सुख और संपदा को देनेवाले अग्नि की उपासना धन-रत्न, पशु आदि के

दान द्वारा की, जिसके फलस्वरूप मुझे यम का पद प्राप्त हुआ। पर स्वर्ग-प्राप्ति की इच्छा आत्म-साधना के विरुद्ध पड़ती है। ब्रह्म को पाने के लिये सुखभोग की समस्त इच्छाओं का नाश होना आवश्यक है। जो लोग स्वर्ग पाने की इच्छा से यज्ञ करते हैं वे मंदमति कभी ब्रह्म के दर्शन नहीं कर सकते। मैं समस्त यज्ञों का फल तुम्हें देता था, पर तुमने उन सब पदार्थों को अनित्य जानकर त्याग दिया, और धीरता के साथ तुम श्रेय-प्राप्ति की इच्छा करते रहे। तुम्हारे चित्त की इस दृढ़ता की जितनी प्रशंसा की जाय थोड़ी है। वत्स! मुक्ति चाहने-वाले पुरुषों को न सांसारिक सुखों की प्राप्ति से हर्षित होना चाहिये, न उनके नष्ट होने से दुःखी। केवल आत्म-कल्याण की चिन्ता उनके मन में होनी चाहिये, तभी उन्हें ब्रह्म-लाभ हो सकता है। हे नचिकेता! मुझे विश्वास हो गया है कि तुम ब्रह्म-प्राप्ति के अधिकारी हो, क्योंकि तुम सब प्रकार के सांसारिक सुखों के प्रति उदासीन होकर सच्ची भावना से आत्म-कल्याण के लिये उत्सुक हुए हो।"

यमराज का इस प्रकार का ज्ञानोपदेश सुनकर नचिकेता ने कहा—"यदि आप मुझे सचमुच आत्मा-संबंधी ज्ञान का अधिकारी समझते हैं, तो कृपा करके मुझे उस परम तत्त्व से भली भाँति परिचित कराइए, जो धर्म और अधर्म, कार्य और कारण, भूत और भवि-ष्य, इन सबसे परे है। आप उसके मर्म को समझे हुए हैं, इसलिये मुझे भी उसका बोध कराइए।"

यमराज बोले—"यह ओङ्कार-रूप ब्रह्म या आत्मा

अनादि और अनन्त है। इसका न जन्म होता है, न यह कभी मृत्यु को प्राप्त होता है। यह नित्य है, इसका कभी क्षय नहीं होता। शरीर का नाश होने पर भी इसका कभी नाश नहीं होता। किसी के शरीर की हत्या करनेवाला यदि यह माने कि मैंने आत्मा का विनाश कर दिया, और यदि कोई किसी के शरीर को मरण-दशा में देखकर यह सोचता है कि उसकी आत्मा नष्ट हो गई, तो ये दोनों भ्रम में पड़े रहते हैं। यह विकार-रहित अविनाशी तत्त्व न किसी का विनाश करता है न स्वयं विनष्ट होता है। इस आत्मा का ज्ञान न वेदों के अध्ययन से, न उपदेश सुनने से और न कोरी बुद्धि से प्राप्त होता है। केवल सच्ची साधना से ही उसे पाया जा सकता है।

"जो पुरुष पाप-कर्मों में लिप्त रहते हैं, जो इन्द्रियों के वश में होकर सदा अस्थिर और अशांत रहते हैं, जो सांसारिक भोगों में डूबकर साधना के पथ पर पाँव रखने की प्रवृत्ति नहीं रखते, वे कभी आत्मा के सच्चे स्वरूप को नहीं समझ पाते। पर जो लोग शांत-चित्त होकर चंचल इन्द्रियों के वश में नहीं होते और अपनी धुन के पक्के होते हैं, वे परम ज्ञान द्वारा उसकी यथार्थता से परिचित हो जाते हैं।"

[३]

"अग्नि की उपासना द्वारा, यज्ञादि अनुष्ठानों को करते हुए, फल प्राप्ति की इच्छा न रखकर उदासीन भाव से समस्त सांसारिक कर्मों को करते रहना चाहिये, और साथ ही उन सब लौकिक कर्मकाण्डों के परे जो

सर्वव्यापी, अविनाशी ब्रह्मतत्त्व है उसे समझने का पूरा प्रयास करते रहना चाहिये।

"आत्मा को रथी समझो और शरीर को रथ; इन्द्रियों को इस शरीर-रूपी रथ के घोड़े समझो, क्योंकि जिस प्रकार घोड़े रथ को खींचते रहते हैं, उसी प्रकार इन्द्रियाँ भी शरीर को नाना प्रकार के व्यापारों के लिए इधर-उधर खींचती रहती हैं। मन इन इन्द्रिय-रूपी घोड़ों की लगाम है। क्योंकि मन की प्रवृत्ति जिस ओर होती है इन्द्रियाँ उसी ओर दौड़ती हैं। मन की प्रवृत्तियों को भी निश्चित रूप से परिचालित करनेवाली जो बुद्धि है उसे सारथी जानना चाहिये। क्योंकि जिस प्रकार सारथी जानता है कि उसे किस ओर जाना है, और उसी हिसाब से लगाम को इधर-उधर घुमाता है, उसी प्रकार बुद्धि भी मन को अनिश्चित रूप से इधर-उधर भटकने न देकर कुछ निश्चित दिशाओं की ओर प्रेरित करने में समर्थ है।

"पर यदि बुद्धि-रूपी सारथी चतुर नहीं होता, प्रवृत्ति और निवृत्ति के भेद को नहीं जानता, तो मन रूपी लगाम सब समय ढीली पड़ी रहती है, और ऐसे सारथी के इन्द्रिय-रूपी घोड़े उसके वश में न रहकर बन्धनहीन उच्छृंखल अवस्था में इधर-उधर भटकते रहते हैं। पर यदि बुद्धि-रूपी सारथी समझदार होता है, तो वह सावधानी से मन-रूपी रास को अपने हाथों में लिये रहता है और उसके इन्द्रिय-रूपी घोड़े भी उसके वश में रहते हैं, अर्थात् नाना प्रकार के विषय-भोगों के लिये आतुर होकर भटकते नहीं रहते। ऐसा चतुर और

संयमी सारथी जिस रथी का होता है, अर्थात् जो व्यक्ति अपनी बुद्धि से अपने मन और इन्द्रियों को अपने वश में रखता है वह अविनाशी ब्रह्म का सच्चा रूप जानकर साधना द्वारा उसी में लीन हो जाता है।

"रूप, रस आदि इन्द्रियों के भोग्य-विषय इन्द्रियों से श्रेष्ठ हैं, क्योंकि इन्द्रियाँ उन विषयों के वश में रहती हैं, न कि वे इन्द्रियों के वश में। उन विषयों की अपेक्षा मन बड़ा है, क्योंकि वह उन विषयों के स्वरूप को ग्रहण करने में समर्थ है। मन से भी बुद्धि बड़ी है, क्योंकि वह मन की प्रवृत्तियों को परिचालित करता है। आत्मा बुद्धि से भी बड़ी है। आत्मा से भी बड़ा है—परब्रह्म, परमात्मा। उससे बड़ा और कोई नहीं है। सृष्टि के समस्त तत्त्व अंत में उसी की ओर जाते हैं, इसलिये वह सबकी परम गति है।

"वह परमात्मा सृष्टि के अणु-परमाणु में वर्तमान होते हुए भी अज्ञान और अविद्या द्वारा ढका होने से प्रकाशित नहीं होता। पर जो सूक्ष्मदर्शी ज्ञानी पुरुष हैं, वे अपनी विकाररहित सूक्ष्म बुद्धि के प्रभाव से उसे देख लेने में समर्थ होते हैं। ज्ञानी लोग वाणी को मन में, मन को बुद्धि में, बुद्धि को आत्मा में और आत्मा को परमात्मा में विलीन करके परम-पद को प्राप्त होते हैं।

"हे नचिकेता! जो लोग अज्ञान और मोह की नींद में मग्न होकर सोए हुए हैं उन लोगों के लिए मेरा यह संदेश है—'उठो, जागो, श्रेष्ठ ज्ञानियों को प्राप्त कर आत्मा के गूढ़ तत्त्व को समझो। आत्म-साधना का मार्ग छूरे की पैनी धार के समान बड़ा ही दुर्गम और कठिन है; उसे

पार करने के लिए कमर कसकर खड़े हो जाओ।' "

[४]

नचिकेता तन्मय होकर यमराज का सदुपदेश सुन रहा था। उसने कहा—"हे यमराज! आपकी ज्ञान-भरी बातों से मेरे भीतर की आंखें बहुत कुछ खुल गई हैं, पर अब भी मुझे पूरा सन्तोष नहीं हुआ। आप अपने अमृत के समान प्रवचनों को मुझे सुनाते चले जाइए। इन्द्रियों की मूल प्रवृत्ति क्या है, आत्म-साधना में वे कहाँ तक बाधक हैं और कहाँ तक साधक, यह विषय मुझे और अच्छी तरह समझाइये।"

यमराज बोले—"हे नचिकेता! इन्द्रियों का झुकाव सदा बाहर की ओर रहता है, इसलिये वे केवल बाहरी विषयों का ही अनुभव कर पाती हैं, अन्तरात्मा की विशेषता से परिचित नहीं हो पातीं। इस कारण विवेकी पुरुष इन्द्रियों की समस्त प्रवृत्तियों को अपने वश में करके उन्हें बाहर की ओर न जाने देकर भीतर की ओर खींच लेते हैं। इस प्रकार वे अन्तरात्मा के स्वरूप का ध्यान करने में समर्थ होते हैं।

"जो मंदमति होते हैं, वे इन्द्रियों की रास ढीली करके उन्हें बाहरी विषयों की ओर ही दौड़ाते रहते हैं, और रोग-शोक, बुढ़ापा और मृत्यु के मोह-बंधन में बँधकर अनन्त दुःख पाते हैं। वे चिर-जीवन, दुःख-सुख, संयोग और वियोग के चक्कर में पड़े रहते हैं। पर ज्ञानी पुरुष जानते हैं कि मनुष्य के जीवन का चरम और अंतिम लक्ष्य अंतरात्मा के सच्चे स्वरूप को समझना है, और इन्द्रियों के गुणों की चरितार्थता इसी बात पर है कि वे बाहर की ओर न

दौड़कर भीतर की ओर झुकें। भीतर की ओर प्रेरित होने पर एक बार यदि उन्हें आत्मा-सम्बन्धी विषय में रस लेने का चस्का लग जाय, तो वे फिर बाहरी विषयों की ओर कभी न दौड़ें। कारण यह है कि इन्द्रियाँ आत्मा के द्वारा ही रूप, रस, गंध, शब्द, स्पर्श आदि से सम्बन्धित सुखों का अनुभव करती हैं। बाहरी विषयों में इन्द्रियों को जो सुख मिलता है वह उस मूल सुख की छाया-मात्र है जो आत्मा के भीतर निहित है। इसलिये विवेकी व्यक्ति छाया के प्रलोभन से इन्द्रियों को खींचकर उन्हें मूल सुख की प्राप्ति के लिये भीतर की ओर ले जाते हैं।

"हे सौम्य ! यह आत्मा विश्व के भीतर और बाहर सर्वत्र सब रूपों में छाई हुई है। एक ही आत्मा अविवेकी पुरुषों को सांसारिक विषयों की सामग्री के रूप में दिखाई देती है, और ज्ञानियों के आगे अंतर के ज्ञान-रूपी प्रकाश से भासित अनंत चेतनमय और अमर आनंदमय ब्रह्म के रूप में प्रकट होती है। यह एक ही ब्रह्म सृष्टि के नाना नामों और नाना रूपों में अपने को व्यक्त करता है। जो मूढ़ उसके इस एकत्व को नहीं समझता और उसमें भेदभाव देखता है वह महामृत्यु की दशा को प्राप्त होता है।

"यह ब्रह्म-रूप आत्मा धुएँ से रहित अग्नि की उज्ज्वल लौ के समान हृदयरूपी आकाश में चिर-स्थिर होकर विराजमान है। यह भूत, वर्तमान और भविष्य—तीनों कालों का नियन्ता है। जिस रूप में वह वर्तमान है उसी रूप में वह अनादि काल से रहता आया है, और अनंत काल तक रहेगा।

"हे गौतम ! जैसे शुद्ध स्थान में बरसा हुआ जल वैसा ही शुद्ध, एकरस और एकरूप होता है, वैसे ही ज्ञानी पुरुष की दृष्टि में आत्मा एकरूप होती है, चाहे वह हृदयाकाश में स्थित हो, चाहे सांसारिक कर्मकाण्डों और बाहरी विषयों के रूप में।"

[५]

नचिकेता को ध्यानमग्न अवस्था में अपने दिए हुए उपदेशों को ग्रहण करते देखकर यमराज कहते चले गए--"इस ग्यारह द्वारवाले शरीर-रूपी नगर का राजा जो आत्मा रूपी ब्रह्म है उसका ध्यान जो पुरुष करता है, उसे कभी किसी प्रकार का शोक नहीं हो सकता, और वह सांसारिक बंधनों का दास न रहकर उनका स्वामी बना रहता है, अर्थात् उन बंधनों से मुक्ति पा लेता है। यह नहीं समझना चाहिये कि यह आत्मा केवल इस शरीर रूपी नगर का ही स्वामी है। आकाश में स्थित सूर्य, आकाश और अंतरिक्ष में व्याप्त वायु, यज्ञ में निवास करनेवाली अग्नि और वैदिक कलश में वर्तमान सोम के रूप में यही सबका अधीश्वर है। सब मनुष्यों और देवताओं के भीतर यही है। यही शंख, सीपी और घोंघों के रूप में जल में उत्पन्न होता है, जौ, गेहूँ, धान आदि अन्नों के रूप में पृथ्वी पर उत्पन्न होता है, और नदी, आदि के रूप में पहाड़ों से फूट निकलता है। यह सर्वत्र, सर्वव्यापी होने पर पूर्ण रूप से शुद्ध और निर्मल रहता है।

"जैसे किसी नगर का स्वामी जब उस नगर को छोड़कर चला जाता है, तो वह नगर नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है, उसी प्रकार जब शरीर-रूपी नगर में रहनेवाला आत्मा-

रूपी ब्रह्म उसे छोड़कर चला जाय, तो उसमें क्या शेष रह जाता है? केवल मृत शरीर शेष रह जाता है? जो शीघ्र ही सड़ने गलने लगता है।

"प्राणी न तो केवल इन्द्रियों के बल से जीते हैं, न प्राण, अपान आदि वायु-तत्त्वों से। ये सब विनाशशील हैं और एक न एक दिन अवश्य नष्ट हो जाते हैं। मूल-तत्त्व-रूप आत्मा के आश्रय के बिना उनकी स्थिति असंभव है।

"हे गौतम! मैं अब तुम्हें यह बताऊँगा कि गुप्त रूप से स्थित सनातन ब्रह्मतत्त्व का निगूढ़ रहस्य क्या है। सब प्राणी जिस समय मोहनिद्रा की अवस्था में मग्न रहते हैं, उस समय जो मूल पुरुष जागता हुआ सृष्टि के सभी रचना-कार्यों को करता रहता है, वही ब्रह्म है, वही अमर-तत्त्व है। समस्त लोक उसी में स्थित हैं, उसके आश्रय के बिना कुछ भी ठहर नहीं सकता।

"जैसे अग्नि का मूल प्रकाशरूप एक ही होता है, किन्तु वह, जितने ही आकार और प्रकार की जलनेवाली वस्तुएँ होती हैं, उतने ही रूप धारण करती है। उसी प्रकार सभी प्राणियों की अन्तरात्मा मूल में एक ही होने पर विभिन्न प्रकार की आकृतियों के रूप में प्रकट होती है। पर वास्तव में आकाश की तरह ही निराकार है।

"जिस प्रकार एक ही वायु जगत् में व्याप्त होकर प्राण, अपान आदि के भेद से नाना रूप धारण करता है, उसी प्रकार एक ही मूल आत्मा भिन्न-भिन्न प्राणियों के भीतर प्रवेश करके विभिन्न प्रकारों में प्रकट होती है।

"जिस प्रकार सब लोकों का चक्षुरूप सूर्य अच्छे-

बुरे, शुद्ध-अशुद्ध सभी प्रकार की वस्तुओं पर समान रूप से अपना प्रकाश फैलाता है, पर किसी से लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार समस्त प्राणियों के अन्तर में स्थित आत्मा सर्वव्यापी होने पर जगत् के सुख-दुःख आदि से लिप्त नहीं होती।

"इस प्रकार का जो सबका परिचालक और सबकी अन्तरात्मा है, जो अपने एक रूप से अनेकों रूपों की सृष्टि करता है, उस ब्रह्म को जो ज्ञानी अपने में स्थित देखते हैं केवल उन्हीं को अनंत सुख प्राप्त होता है, दूसरों को नहीं।

"जो आत्मा सभी विनाशशील पदार्थों में नित्य और अविनाशी है, जो चेतनाशील तत्त्वों को भी चेतना देता है, जो अग्नि को तेज, जल को रस और पृथ्वी को गंध देता है, जो एक होकर भी बहुतों की इच्छाओं की परिचालना करता है, उसे जो धीर पुरुष अपने में ही स्थित देखते हैं वे अनंत शांति और अमर सुख पाते हैं।

"सांसारिक विषयों में लिप्त होनेवाला व्यक्ति उस परम सुख को पाना तो दूर उसकी कल्पना तक नहीं कर सकता। पर जो ब्रह्मज्ञानी विषय-वासनाओं के प्रति पूर्ण उदासीन होकर उसके ध्यान में मग्न रहते हैं वे उस सुख का पूर्ण रूप से अनुभव करते हैं।"

[६]

नचिकेता ने यमराज से पूछा—"जिस ब्रह्मतत्त्व के ज्ञान से परम सुख प्राप्त होने की बात आपने कही है उसके संबंध में मैं किस प्रकार यह जान सकता हूँ कि वह सदा प्रत्यक्ष रूप से प्रज्वलित होती रहती है या

नहीं ? क्या कोई प्रकाश ऐसा भी है जो उस परम तत्त्व को हमारे आगे प्रत्यक्ष कर दे ?"

यमराज ने उत्तर दिया—"उस परम तत्त्व को न तो सूर्य अपने तेज से प्रकाशित कर सकता है, न चन्द्रमा और तारे ही उसे आलोकित कर सकते हैं। फिर अग्नि की तो बात ही क्या है! ये प्रकाश-तत्त्व (सूर्य, चन्द्र, अग्नि आदि) उसी मूलप्रकाशरूप आत्मा की अमर ज्योति से ही प्रकाशित होते हैं। उसी के प्रकाश से विश्व के समस्त चराचर प्रकाशित हो रहे हैं।

"हे नचिकेता ! इस संसार में जो कुछ भी वर्तमान है वह सब प्राणरूप ब्रह्म से ही उत्पन्न हुआ है, और उसी की प्रेरणा से ही विश्व के सारे नियम-चक्र चल रहे हैं। इसी ब्रह्म के वज्र से भी कठोर शासन के भय से सूर्य, चन्द्रमा, तारागण आदि से युक्त यह अनंत जगत् नियमित रूप से अपने कार्य में लगा हुआ है।

"इसी के भय से अग्नि जलाने का काम करती है, सूर्य तपाने का काम करता है और इसी के भय से इन्द्र, वायु और मृत्यु दौड़ते रहते हैं।

"जैसे दर्पण में अपना प्रतिबिम्ब दिखाई देता है उसी प्रकार निर्मल बुद्धि में आत्मा के दर्शन होते हैं। इस आत्मा का रूप प्रत्यक्ष दर्शन का विषय नहीं है। स्थूल दृष्टि से इसको देखना असंभव है। पर जब साधक अपनी बुद्धि को संशयों से रहित करके शुद्ध बना लेता है, तब वह मन में प्रकाशित हो जाता है। इस आत्मा का स्वरूप जान लेने पर मनुष्य अमरता को प्राप्त हो जाता है।

"जब मन सहित पाँचों इन्द्रियाँ अपने-अपने कर्मों

से निरत होकर स्थिर हो जाती हैं, अपने-अपने विषयों के प्रति विमुख होकर आत्मा की ओर चली जाती हैं, तो बुद्धि भी किसी प्रकार की चेष्टा करना छोड़ देती है। इसी अवस्था को परम गति कहते हैं। यही योग है। इस अवस्था में योगी मद से रहित होकर तन्मय और तद्गत हो जाता है।

"यह आत्मा न वाणी द्वारा प्राप्त हो सकती है, न मन द्वारा और न चक्षु द्वारा। जो लोग केवल प्रत्यक्ष प्रमाण को ही श्रेष्ठ प्रमाण मानते हैं वे कैसे उसे प्राप्त कर सकते हैं? पर जो लोग अपने अंतर की अनुभूति से उसे जान पाते हैं वे ही सच्चे अर्थों में ज्ञानी हैं।

"हे नचिकेता! जो सब कामनाएँ जीव के हृदय को जकड़े हुए रहती हैं, वे सब जब पूर्ण रूप से नष्ट हो जाती हैं तब जीव अमर हो जाता है, और इसी लोक में ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है।

"जब इस लोक में हृदय के सब बंधन टूट जाते हैं तभी प्राणी अमृत-पद को प्राप्त कर सकता है। ज्ञानियों का यही मत है।"

यमराज ने जब इस प्रकार आत्मा-विषयक ज्ञान विस्तार के साथ नचिकेता को समझाया तो वह सम्पूर्ण योग की विधि से परिचित होकर, धर्म और अधर्म आदि के मल से रहित हो गया, और अविद्या के अंधकार से ज्ञान के परिपूर्ण प्रकाश-लोक में आकर अमर हो गया।

पिप्पलाद ऋषि और उनके शिष्य

भरद्वाज का पुत्र सुकेशा, शिवि का पुत्र सत्यकाम, सौर्य का पुत्र गार्ग्य, अश्वल का पुत्र कौशल्य, भृगु का पुत्र वेदर्भि, और कत्य का पुत्र कवन्धी—ये सब ब्रह्मप्राप्ति के लिये तत्पर और उत्सुक थे। उन सबने मिलकर निश्चय किया कि परम आदरणीय पिप्पलाद ऋषि के पास जाकर ब्रह्मज्ञान प्राप्त किया जाय। इस विचार से वे सब हाथों में समिधा, पुष्प आदि लिये हुए उनके पास पहुँचे। वह भेंट पिप्पलाद मुनि के चरणों में अर्पित करके अत्यंत श्रद्धा तथा विनय के साथ प्रणाम करते हुए वे लोग बोले—"हे पूज्यवर! हमें ब्रह्मविद्या से परिचित कीजिए।"

पिप्पलाद ऋषि ने उन लोगों से कहा—"तुम लोग तपस्वी अवश्य हो, तथापि अभी तुम लोगों को और एक वर्ष तक कठोर ब्रह्मचर्य धारण करके मेरे साथ रहकर पूर्ण आस्तिक भाव प्राप्त करना होगा। उसके बाद तुम लोग जो जो प्रश्न करोगे उन सबका उत्तर मैं स्पष्ट रूप से दे दूँगा।"

उन लोगों ने पिप्पलाद ऋषि की आज्ञा का पालन अत्यंत श्रद्धा के साथ किया। एक वर्ष तक उन सबने पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करके अपने मन में संशयरहित आस्तिकता की ओर ले जाने की पूरी साधना की। उसके बाद कत्य के पुत्र कबन्धी ने मुनि के पास आकर यह प्रश्न किया—"भगवन्! दया करके यह बताइए कि इस समस्त जगत् के प्राणी कहाँ से जन्म लेते हैं?"

पिप्पलाद मुनि ने उत्तर दिया—"प्राणियों को रचने की इच्छा से प्रजापति ब्रह्मा ने तप किया, अर्थात् पूर्ण रूप से अपने चित्त को जाग्रत् किया। फिर उसके बाद उन्होंने अन्न और प्राण के जोड़े की उत्पत्ति की—इस उद्देश्य से कि वे दोनों अनेक प्रकार की प्रजा को उत्पन्न करेंगे।

"इन दोनों में सूर्य ही प्राणरूप अग्नि है, और अन्न ही चन्द्रमा है। जिस समय सूर्य उदय होकर पूर्व दिशा में आता है उस समय वह अपना प्रकाश फैलाकर पूर्व दिशा के सब प्राणियों को अपनी किरणों से छा देता है, और उसी प्रकार जब दक्षिण में, पश्चिम में और उत्तर में, ऊपर, नीचे और बीच में सर्वत्र अपने प्रकाश को फैलाता है तो उन सब स्थानों के प्राणियों को अपनी किरणों से छा देता है। इस प्रकार वह सर्वव्यापी आत्मा का ही स्वरूप है।

"वह विश्वरूप है, अनंत किरणोंवाला है, ज्ञानवान् है, सब प्राणियों का आश्रय-रूप है, समस्त जगत् का चक्षुरूप है, और अनंत प्रकार के प्राणियों का प्राण-स्वरूप है।

"संवत्सर ही प्रजापति ब्रह्म है, उत्तरायण और दक्षिण-

यन उसके दो मार्ग हैं। जो लोग अपनी सांसारिक आकांक्षा की पूर्ति के लिये-धन, पुत्र और भोगादि की कामना से--कर्म करते हैं वे दक्षिण मार्ग को जाते हैं। यह पितृमार्ग है। वे लोग चंद्रलोक को पाते हैं और बार-बार जन्म लेते रहते हैं। पर जो लोग तप, ब्रह्मचर्य, श्रद्धा और ज्ञान के द्वारा, आत्मस्वरूप की खोज करते हैं, और प्राणरूप सूर्य का सच्चा स्वरूप जान लेते हैं वे उत्तर मार्ग से जाकर सूर्यलोक को पाते हैं। यह सूर्य-लोक सब प्राणों का अमर आश्रय है। जो लोग इसे एक बार प्राप्त कर लेते हैं वे फिर कभी लौटकर नहीं आते। यह जन्म-मरण के चक्कर को रोकता है, इसलिये इसे निरोध भी कहते हैं।

"जो लोग केवल काल का ज्ञान रखते हैं वे कहते हैं कि पाँच ऋतुएँ (हेमंत और शिशिर को एक मानकर) इस सूर्य के पाँच चरण हैं, बारह मास उसके बारह अवयव हैं, यह स्वर्गी भौतिक सृष्टि का जन्मदाता होने से सबका पिता है। पर दूसरे विद्वानों की यह धारणा है कि वह सर्वज्ञानस्वरूप है, और सूक्ष्म रूप का जन्म-दाता है: वह सात प्रकार की रंगीन किरणों से युक्त होने के कारण सप्त ज्ञानचक्रों से युक्त और छः ऋतु-रूपी अरेवाले कालरूपी रथ में स्थित है। इसमें सारा जगत् प्रतिष्ठित होकर रथ के पहियों की तरह घूमता रहता है। यह सूर्यरूपी ब्रह्म स्थूल तथा सूक्ष्म दोनों रूपों से सृष्टि का कारण है।"

[२]

उसके बाद उन सर्वज्ञान-सम्पन्न पिप्पलाद मुनि से

भृगु-पुत्र वैदर्भि ने पूछा—"हे भगवन् ! आकाश आदि पंच महाभूत, चक्षु आदि पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, वाणी आदि पाँच कर्मेन्द्रियाँ, मन और प्राण इन तत्त्वों के कितने देवता प्राणी के शरीर को धारण करते हैं, उनमें से कौन-कौन इसे प्रकाशित करते हैं, और इन सबों में श्रेष्ठ कौन है ?"

इस प्रश्न के उत्तर में महर्षि पिप्पलाद बोले—"ये सब देवता, आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथिवी, वाणी, मन, चक्षु और श्रोत्र (कर्णेन्द्रिय) हैं। इन्होंने एक समय अपनी-अपनी शक्ति को प्रकाशित करते हुए कहा—'हम इस शरीर में व्याप्त होकर उसे धारण करते हैं।'

"इस पर उन सबसे महान् शक्तिशाली प्राण ने कहा—'तुम मोह में न पड़ो और अपने अज्ञान के कारण मिथ्या अहंकार के फेर में मत पड़ो। मैं ही अपने को पाँच भागों में बाँटकर इस शरीर में व्यापकर उसका धारण करने वाला हूँ।' पर उन सबने प्राण की इस बात पर विश्वास नहीं किया।

"तब प्राण उनको शिक्षा देने के विचार से शरीर से बाहर निकल गया। फल यह हुआ कि उसी के साथ सब इन्द्रियाँ भी बाहर को निकल आईं। जब प्राण फिर से शरीर में प्रवेश करके स्थित हुआ तब सब इन्द्रियाँ भी उसके पीछे-पीछे आकर स्थित हुईं। जिस प्रकार मधुमक्खियों का राजा (रानी) जब छत्ते को छोड़कर ऊपर को उड़ता है तो सब मधुमक्खियाँ भी उसके पीछे-पीछे उड़ने लगती हैं, और जब वह बैठ जाता है तो वे भी बैठ जाती हैं, उसी प्रकार सब इन्द्रियों की भी वही

दशा हुई। वे समझ गईं कि प्राण का क्या महत्व है और उसकी स्तुति करने लगीं।

"यह प्राण अग्निरूप से प्रज्वलित होता है, सूर्यरूप से सारे जगत् में प्रकाश फैलाता है, मेघ के रूप में वर्षा करता है, इन्द्र का रूप धारण करके यह प्रजा का पालन और असुरों का नाश करता है, यह सात प्रकार के वायु के रूप में सृष्टिचक्र को गतिशील बनाता है, पृथिवी के रूप में अपने में सब कुछ धारण करता है, चन्द्रमा के रूप में स्निग्धता बरसाता है। सत् और असत्, स्थूल और सूक्ष्म रूप, जो कुछ भी इस नश्वर जगत् में है उस सब का कारण यही प्राण है और अमृत तथा अविनाशी भी यही है।

"रथ के पहिये की नाभि में जिस प्रकार अरे स्थित होते हैं उसी प्रकार इस प्राण में समस्त जगत् स्थित है। ऋग्वेद, यजुर्वेद, और सामवेद में जो ज्ञान है वह सब इसी प्राण के ही आधार पर प्रतिष्ठित है, और समस्त कर्म-काण्ड रूप यज्ञ और ब्राह्मण तथा क्षत्रिय के रूप में उन कर्मों का कर्ता यही है। यह जानकर सब इंद्रियाँ इस प्रकार उसकी स्तुति करने लगीं—

" 'हे प्राण! तू ही सृष्टिकर्ता प्रजापति का विराट् रूप है, तू ही माता-पिता की संतान को जन्म देनेवाली शक्ति है, तू ही संतान के रूप में माता-पिता का प्रतिबिंब बनकर उत्पन्न होता है। तू ही चक्षु आदि इन्द्रियों के साथ प्राणी के शरीर में स्थित रहता है। उन सब की शक्ति का कारण तू ही है, और सारा दृश्य और भोग्य जगत वास्तव में तेरे ही लिये भेंट-स्वरूप है और तेरे ही भोग के लिये है।

" 'हे प्राण ! तू परम श्रेष्ठ है तू देवताओं के पास होम किये हुए पदार्थों को पहुँचानेवाला है। श्राद्ध में पितरों के उद्देश्य से जो अन्न दिया जाता है उसे पितरों के निकट पहुँचाने वाला भी तू ही है। चक्षु आदि इन्द्रियों की कर्म-शक्ति तू ही है, और उनका देहादि को धारण करने का मूल आधार भी तू ही है। ऋषियों के सत्य आचरण का मूल कारण भी तू ही है।

" 'हे प्राण ! इन्द्र भी तू ही है, अपने प्रलयंकर तेज से जगत् का विनाश करनेवाला रुद्र भी तू ही है, स्थितिकाल में सृष्टि का पालन करने वाला विष्णु भी तू ही है, समस्त अन्तरिक्ष और आकाश में व्याप्त होने और विचरण करनेवाला भी तू ही है, और समस्त ज्योतियों का स्वामी सूर्य भी तू ही है।

" 'हे प्राण! जब तू मेघ होकर बरसता है उस समय तेरे द्वारा रचा गया समस्त प्राणि-जगत् आनंदित होता है।

" 'हे प्राण! तू समस्त संस्कारों से रहित, स्वभाव से ही शुद्ध और निर्लिप्त है, तू एकर्षि नामक अग्नि के रूप में सब प्रकार के होम-पदार्थों (भोग्य-वस्तुओं) का भोक्ता है, और सम्पूर्ण जगत् का पति है। तू ही वायु है और सबका पिता भी है।

" 'हे प्राण ! तेरी जो मूल शक्ति वाणी में स्थित है, या चक्षु अथवा कर्णेन्द्रिय में प्रतिष्ठित है, या मन में व्याप्त है, उसे शांत भाव से स्थिर रखने की कृपा कर। उसे बाहर निकालकर न बिखेर। इसी में जगत् का कल्याण है।

" 'हे प्राण! इस भूलोक में जो कुछ भी भोग्य सामग्री

है, स्वर्गलोक में भी देवों के भोग के जो कुछ साधन हैं, वे सब तुम्हारे वश में हैं। हे प्राण! माता जैसे पुत्रों की रक्षा करती है वैसे ही तुम हमारी रक्षा करो। हमारी बुद्धि को तुम निरंतर बढ़ाते जाओ और समृद्धि भी बढ़ाओ।'

"इस प्रकार प्राण की स्तुति करते हुए इन्द्रियों ने जाना कि प्राण की क्या महत्ता है।"

[३]

उसके बाद अश्वल के पुत्र कौशल्य ऋषि ने पिप्पलादि मुनि से प्रश्न किया—"हे भगवन्! यह प्राण कैसे और कहाँ से उत्पन्न होता है, और इस शरीर में किस प्रकार प्रवेश करता है? अपने आपको विभक्त करके यह किस प्रकार स्थित रहता है? किस प्रकार शरीर से बाहर निकलता है? और किस उपाय से यह बाहरी (पार्थिव) विषयों को, और भीतरी (आध्यात्मिक) विषयों को धारण करता है?"

पिप्पलाद मुनि ने उत्तर देते हुए कहा—"सौम्य! प्राण के विषय में तू अत्यन्त कठिन प्रश्नों को पूछ रहा है। फिर भी तू चूंकि ब्रह्मविचार में तल्लीन है, इसलिये मैं तुझे बताता हूँ, सुन!"

"इस प्राण की उत्पत्ति आत्मा से होती है। जैसे मनुष्य के पीछे उसकी छाया लगी रहती है, उसी प्रकार आत्मा के साथ यह प्राणरूपी छाया लगी रहती है। यह मन के संकल्प से कामना में और कामना से शरीर में प्रवेश करता है।

"जैसे कोई सम्राट् अपने अधीन छोटे-मोटे राजाओं

को यह कहकर नियुक्त करता है 'कि तुम अमुक स्थान में इतने ग्रामों का शासन करो और अमुक स्थान में उतने ग्रामों पर अधिकार कर लो,' उसी प्रकार यह प्राण इन्द्रिय रूप दूसरे प्राणों को भी अपने-अपने क्षेत्र पर विशेष-विशेष प्रकार के काम करने के लिये नियुक्त करता है।

"यह प्राण मनुष्य-शरीर के निचले भागों में अपान वायु की स्थापना करता है। अपने आप मुख और नाक के छेदों से निकलकर आँखों और कानों में प्रवेश करता है, बीच में समान वायु को प्रतिष्ठित करता है, जो पेट की आग में हवन किये हुए अन्न को समान रूप से सारे शरीर में पहुँचाता है : पेट की इस आग में अन्न का हवन होने से उससे सात ज्योतिर्मयी लपटें निकलती हैं, जो दो आँखें, दो कान, नाक के दो छिद्र और एक मुख—इन सबको अपने-अपने कर्तव्य कर्म का प्रकाश दिखाती रहती हैं।

"यह आत्मा निश्चित रूप से हृदय में स्थित है। इस हृदय से एक सौ एक नाड़ियाँ जुड़ी हुई हैं। उन नाड़ियों में से प्रत्येक के साथ सौ शाखा-नाड़ियाँ जुड़ी हुई हैं, और फिर उनमें से प्रत्येक के साथ भी और शाखा-नाड़ियाँ जुड़ी रहती हैं। इन सब नाड़ियों में सारे शरीर में व्याप्त होनेवाला व्यान नामक वायु विचरण करता है।

"उनमें से एक नाड़ी (सुषुम्ना) ऊपर को गई है। उससे होकर उदान वायु ऊपर को जाता है और जीव को पुण्य कर्मों द्वारा पुण्यलोक (देवलोक), पापकर्मों द्वारा पापलोक और पाप-पुण्य दोनों के सम्मिश्रण से मनुष्य-लोक को ले जाता है।

"यह तो हुई मनुष्य के भीतर विराजनेवाले प्राण की बात। अब प्राण के उस रूप का उल्लेख किया जाता है जिससे वह बाह्य जगत् में विचरता है। सूर्य ही वह प्राण है, जो चक्षु में स्थित प्राण के प्रति अनुग्रह करता हुआ उदित होता है। पृथिवी के भीतर जो देवता निहित है वह अपान वायु को वश में किये हुए है; मध्य में जो आकाश है वह समान वायु को अपनाये हुए है, और आकाश के भी ऊपर जो वायु व्याप्त है वह व्यान है।

"चारों ओर फैला हुआ तेज उदान है। इस कारण जिस मनुष्य का तेज शांत हो जाता है वह मन में समायी हुई इन्द्रियों के साथ दूसरा शरीर धारण करता है।"

"मृत्यु के समय जीव की चित्तवृत्ति जैसी होती है उसी के अनुसार वह प्राण को प्राप्त करता है। प्राण तेज से युक्त होकर जीवात्मा को उसी लोक में पहुँचा देता है जो उसके मन के भावों के उपयुक्त है।

"जो ज्ञानी पुरुष प्राण की इस विशेषता को जान जाता है उसकी संतान विनाश को प्राप्त नहीं होती, और वह अमर हो जाता है।

"यह जानकर कि प्राण की उत्पत्ति कहाँ से और कैसे होती है, शरीर में उसका आगमन कैसे होता है, उसकी स्थिति क्या है, उसकी महत्ता और प्रभुता का स्वरूप क्या है, उसके पाँच प्रकार के वृत्तिभेद की विशेषताएँ क्या हैं तथा कौन आध्यात्मिक तत्व उसमें निहित है, साधक अमरत्व को प्राप्त होता है।"

[४]

उसके पश्चात् सौर्य के पुत्र गार्ग्य ने पिप्पलाद ऋषि

से प्रश्न किया—"हे भगवन् ! इस जीव के शरीर में कौन-कौन इन्द्रियाँ सोती हैं, कौन जागती रहती हैं और कौन-सी स्वप्न देखती है? कौन इन सब अनुभूतियों से होनेवाले सुख को भोगता है? और ये सब किसमें जाकर लीन होते हैं?"

पिप्पलादि ऋषि ने उत्तर दिया—"जैसे सूर्य के अस्त होने पर उसकी सब किरणें इस तेजोमण्डल सूर्य में ही प्रवेश करके एक रूप हो जाती हैं, और फिर सूर्य के उदय के समय फिर वे सब किरणें उस तेजोमण्डल में से निकलकर अपना प्रकाश बाहर बिखेरने लगती हैं, उसी प्रकार सब विषय और इन्द्रियाँ जब अपने से श्रेष्ठ सत्ता-वाले मन में लीन होकर एक रूप हो जाती हैं और फिर जीव न कुछ देखता है न सूँघता है, न स्वाद लेता है, न छूता है, न बोलता है, न कोई क्रिया करता है, तो उस अवस्था को उसके सोने की अवस्था कहते हैं"।

"उस समय इस शरीर-रूपी नगर में केवल जीवन यज्ञ की प्राणाग्नियाँ (पाँच प्रकार के वायु) जागती रहती हैं। उनमें अपान गार्हपत्य नाम की अग्नि है, व्यान दक्षिणाग्नि है, और प्राण आहवनीय नाम की अग्नि है, समान वायु श्वास-प्रश्वास की गति को समान रूप से भीतर खींचने और बाहर ले जानेवाला है, मन उस यज्ञ का यजमान है, क्योंकि मूल में वही सब कर्मों को करनेवाला और उनके फलों को भोगनेवाला है। उदान उस यज्ञ का फल है, क्योंकि वह मन को ध्यान-मग्न करके ब्रह्म की प्राप्ति कराता है।

"इस दशा में—स्वप्न की-सी अवस्था में—यह ज्योति-स्वरूप मन ब्रह्म की अपार महिमा का अनुभव करता है।

जिसे वह पहले देख चुका है उसे नये सिरे से नये रूप में देखा हुआ-सा बोध करता है; जो-कुछ पहले सुन चुका है उसे फिर से सुनता है: अनेक देशों और विदेशों में देखी और अनुभव की हुई वस्तुओं और बातों को नये रूप में देखता और अनुभव करता है: इस जन्म में देखे या सुने हुए, अथवा जन्मान्तर में देखे या सुने हुए सत् और असत विषयों को फिर से देखता सुनता या अनुभव करता है।

"यह मन जब ज्ञान रूपी तेज द्वारा मग्नता की अवस्था को प्राप्त होता है, तो उस दशा में फिर वह किसी भी प्रकार का स्वप्न नहीं देखता। उसकी समस्त चिंता और वासना-रूपी किरणें उस महातेज में विलीन हो जाती हैं, और तब इस शरीर में अगाध और अनंत सुख की अनुभूति व्याप्त हो जाती है।

"जिस प्रकार सूर्यास्त के बाद समस्त पंछी बसेरा लेने के लिये एक पेड़ का आश्रय पकड़ कर उसमें निश्चिंत भाव से निद्रामग्न हो जाते हैं, उसी प्रकार ब्रह्मप्राप्ति की उस अवस्था में मन की सब वासनाएँ और कामनाएँ, और उसमें प्रतिबिंबित होनेवाला सब दृश्य जगत आत्मा में विलीन हो जाता है।

"सुषुप्ति की उस दशा में पृथिवी और उसका अव्यक्त सूक्ष्म स्वरूप, जल और उसकी अदृश्य अभिव्यक्ति, वायु और उसका सूक्ष्म भाव, तेज और उसका अंतर-आभास, आकाश और उसका सूक्ष्म मात्रा-स्वरूप भीतरी आकाश का भाव, चक्षु और उसके देखने के विषय—सारा दृश्य जगत्—कर्ण और उसके सुनने योग्य विषय, नाक

और उसके द्वारा सूँघे जाने वाले पदार्थ, जीभ और स्वाद लेने योग्य वस्तुएँ, स्पर्शेन्द्रिय और छूने योग्य पदार्थ, वाणी और बोले जाने योग्य विषय, चरण और चलने योग्य प्रदेश, मन और उसके द्वारा मनन किये जाने वाले विषय बुद्धि और जानने योग्य पदार्थ या विषय, अहंकार और अहंकार करने योग्य विषय, चित्त और उसके द्वारा चिंता करने योग्य बातें, प्रकाश और प्रकाशित होने योग्य विषय प्राण और उसके द्वारा धारण करने योग्य सकल पदार्थ आत्मा में लीन होकर एकरूप हो जाते हैं और आनंद की अनुभूति द्वारा मग्नता की अवस्था को प्राप्त होते हैं।

"जिस प्रकार जल में प्रतिबिंब पड़ता है, उसी प्रकार इस शरीर में ज्ञान स्वरूप पुरुष प्रवेश करता है। शरीर-धारी जीव जो कुछ देखता है वास्तव में उसका देखने-वाला वही पुरुष है, वह जो कुछ सुनता है उसका सुनने-वाला भी मूल में वही (पुरुष) है: सूँघनेवाला, स्वाद लेनेवाला, मनन करनेवाला, जाननेवाला, और कर्म करने वाला भी वही विज्ञानात्मा पुरुष है। वह सुषुप्ति की अवस्था में अविनाशी आत्मा में उसी प्रकार लीन हो जाता है जिस प्रकार जल के सूख जाने पर उसका प्रतिबिंब सूर्य में ही विलीन हो जाता है।

"हे सौम्य! सब प्रकार की इच्छाओं और चिंताओं से रहित होकर जो उस अज्ञान से मुक्त, शरीर के सब संस्कारों से शून्य, निर्गुण, शुभ्र, प्रकाशमय, कभी विनष्ट न होनेवाले परब्रह्म को जान जाता है, वह उसी श्रेष्ठ अविनाशी को प्राप्त होता है, और अविद्या से रहित

होकर सर्वज्ञ—सब कुछ जाननेवाला—बन जाता है।"

"हे सौम्य! जिस परम तत्त्व में सब प्राण, पंचभूत, अग्नि, वायु आदि, सब देवता समस्त इंद्रियों के साथ लीन हो जाते हैं, उस विज्ञान-रूप ब्रह्म को जो जान जाता है वह सर्वज्ञ होकर, सबमें व्याप्त हो जाता है।"

[५]

उसके पश्चात् शिवि के पुत्र सत्यकाम ने पिप्पलाद मुनि से प्रश्न किया—"हे भगवन्! मनुष्यों में जो विद्वान व्यक्ति मृत्यु के समय तक—जीवन-भर—ओङ्कार का ध्यान करे, उसके रहस्य का भेद करके उसके महत्त्व से परिचित हो जाय, वह किस लोक को प्राप्त करता है?"

पिप्पलाद ऋषि ने उत्तर में कहा—"हे सत्यकाम! यह ओङ्कार निश्चय ही परब्रह्म भी है और अपरब्रह्म भी, अर्थात् जो अनादि और अविनाशी ब्रह्म सृष्टि और प्रलय दोनों अवस्थाओं में सब समय समान रूप से जगत् में व्याप्त रहता है वह अजर अमर परम पुरुष का प्रतीक भी यही ओङ्कार है, और उस परम तत्त्व से उत्पन्न प्राण-तत्त्व भी वही है। इस ओङ्कार द्वारा ब्रह्म के इन दोनों रूपों का ध्यान होता है। ध्यानी पुरुष अपने ध्यान के स्वरूप के अनुसार इन दोनों में से एक को प्राप्त होता है।

"वह यदि इस ओङ्कार की केवल एक मात्रा का ध्यान करे, अर्थात् यदि वह केवल उसके प्रारंभिक रूप का चिंतन करे, तो वह ऋग्वेद के मंत्रों से प्रभावित होकर फिर नये सिरे से इस पृथिवी पर मनुष्य-योनि

में जन्म लेता है, और अपने पूर्वजन्म में अर्जित ज्ञान की खोज के संस्कार द्वारा प्रेरित होकर तपस्या करता है और ब्रह्मचर्य धारण करके, श्रद्धा से युक्त होकर ब्रह्म की महिमा का अनुभव करने लगता है।

"और यदि वह ओङ्कार की दो मात्राओं का ध्यान करे, अर्थात् उसके आदि-रूप और मध्य-रूप के महत्त्व को समझने के प्रयत्न में जुट जाय, तो वह यजुर्वेद के मंत्रों का ज्ञान प्राप्त करके चंद्रलोक में पहुँचता है, और वहाँ दिव्यानुभूति प्राप्त करके फिर मनुष्य-लोक में चला आता है, और अपने पूर्व जन्मार्जित ज्ञान को और आगे बढ़ाने के लिये फिर साधना में रत हो जाता है।

"उसके बाद वह त्रिमात्रा-युक्त ओङ्कार के पूर्ण रूप का ध्यान करने लगता है, और उसके द्वारा परम पुरुष के स्वरूप का बोध करने लगता है। वह तेजोमय सूर्य-लोक में पहुँचता है। उसके बाद जैसे साँप अपनी केंचुली बदलकर नया रूप धारण करता है, उसी प्रकार वह ध्यानी निश्चय ही समस्त पापों से मुक्त होकर सामवेद के मंत्रों द्वारा ब्रह्मलोक में प्रवेश पाता है। वहाँ पहुँचकर वह सकल जीवों के शरीरों में व्याप्त परम पुरुष के दर्शन करता है।

"ओङ्कार की तीन मात्राओं (अकार, उकार और मकार) का ध्यान यदि केवल अक्षरों या उनकी ध्वनियों के रूप में किया जाय, तो उपासक जन्म-मृत्यु के बार-बार लौटनेवाले चक्र से मुक्त नहीं हो सकता। पर यदि इन तीनों मात्राओं को जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति की तीन अवस्थाओं और बाहरी, भीतरी तथा मध्य की क्रियाओं

के परस्पर संबंधित प्रतीकों के रूप में जानकर उनका चिंतन किया जाय तो उनके सम्मिलित रूप—ओङ्कार—का ज्ञाता परम पद को प्राप्त होता है।

"वह ध्यानी ऋग्वेद के मंत्रों द्वारा इस लोक को प्राप्त होता है, यजुर्वेद द्वारा अन्तरिक्ष के लोक का ज्ञान प्राप्त करता है और सामवेद द्वारा उस लोक की प्राप्ति करता है जिसे केवल ज्ञानी लोग ही जानते हैं। वह शान्त, अजर, अमर, भयरहित परम तत्त्व से परिचित होकर स्वयं भी अमरत्व प्राप्त करता है।"

[६]

उसके बाद भरद्वाज के पुत्र सुकेशा ने पिप्पलाद मुनि से कहा—"भगवन! कोसल देश के निवासी हिरण्य नामक राजपुत्र ने एक बार मुझसे पूछा—'हे भरद्वाज-पुत्र सुकेशा! तुम्हें सोलह कलाओं से युक्त परम पुरुष के संबंध में कोई जानकारी है क्या?' मैंने कहा—'नहीं, मैं नहीं जानता।' मेरी इस बात पर उस राजकुमार को विश्वास नहीं हुआ। उसने समझा कि जानते हुए भी किसी कारण से उसे बताना नहीं चाहता। उसने जब दुबारा प्रश्न किया तो मैंने कहा—'यदि मुझे उस सोलह कला वाले पुरुष के विषय में कुछ भी ज्ञान होता, तो मैं तुम्हें क्यों न बताता? जो व्यक्ति असत्य बोलता है वह जड़-सहित सूख जाता है, उसे न इस लोक में सुख मिलता है न परलोक में शांति। ऐसा जानकर मैं कभी झूठ नहीं बोल सकता।' मेरी यह बात सुनकर राजकुमार चुपचाप रथ पर चढ़कर चला गया। अब मैं आपसे विनयपूर्वक यह जानना चाहता हूँ कि यह सोलह कला-

वाला पुरुष कौन है और कहाँ निवास करता है?"

पिप्पलाद ऋषि ने जब सुकेशा की इस तरह की बात सुनी तो उन्होंने उत्तर दिया—"हे सौम्य! जिस मूल पुरुष से सोलह कलाएँ उत्पन्न होती हैं वह शरीर के भीतर हृदय-रूपी आकाश में विराजता है।

"उस पुरुष ने इस प्रकार चिन्तन किया—'शरीर में से किसके बाहर निकलने पर मैं स्वयं निकला हुआ-सा हो जाऊँगा, और किसके स्थित रहने पर मैं स्थिर रूप में वर्तमान रहूँगा?'

"यह सोचकर उस मूल पुरुष ने प्राण की रचना की। उस प्राण पर उसने अपने को मूल रूप से प्रतिष्ठित किया। प्राण के रूप में ही वह सब प्राणियों के भीतर स्थित रहने लगा और प्राण के बाहर निकल जाने पर जैसे वह स्वयं उसके साथ बाहर को निकल जाता हो, ऐसा रूपक उसने रच दिया। उस प्राण के द्वारा उसने प्राणियों के भीतर श्रद्धा की प्रवृत्ति उत्पन्न की, जिसके सहारे से ही प्राणी अपने मूलगत श्रेष्ठ रूप को समझने में समर्थ होता है और कल्याणमय लक्ष्य की ओर अपनी मति को स्थिर रखने में समर्थ होता है। श्रद्धा के बाद उसने कर्मचक्र के आधार-स्वरूप वायु, तेज, जल, पृथिवी, इन्द्रियसमूह, मन और अन्न को उत्पन्न किया। अन्न से बल और वीर्य को उत्पन्न किया, उसके बाद तप को, तप के बाद सभी लौकिक और पारलौकिक कर्मों के मन्त्रों को, उसके पश्चात् उन कर्मों के फल-भोग के लिये समस्त लोकों को, और फिर उन लोकों में उत्पन्न होने वाले सब प्राणियों के नामों को उत्पन्न किया। ये

ही उस मूल पुरुष की सोलह कलाएँ हैं, जो प्राणियों के अज्ञान के कारण भिन्न-भिन्न जान पड़ती हैं, और स्वप्न देखनेवाले व्यक्ति द्वारा स्वप्न में रचे गये पदार्थों की तरह मोह तथा भ्रम पैदा करती हैं।

"जिस प्रकार ये गतिशील, और सब समय बहती रहनेवाली नदियाँ समुद्र में जाकर उसमें विलीन हो जाती हैं, और समुद्र के जल के साथ एकरूप होकर अपना स्वतंत्र अस्तित्व खो बैठती हैं, और समुद्र के नाम से ही प्रसिद्ध होती हैं, उसी प्रकार सब-कुछ देखनेवाले परम पुरुष की ओर जानेवाली ये सोलह कलाएँ उस पुरुष को प्राप्त होकर उसी में लीन हो जाती हैं। वे उसमें एक रूप होकर मिल जाती हैं और उनके नाम और रूप के सब भेद नष्ट हो जाते हैं। उस अवस्था में यह नहीं कहा जाता कि ये सोलह कलाएँ भिन्न-भिन्न हैं, बल्कि वे सब भी परम पुरुष के ही नाम से प्रसिद्ध हो जाती हैं। उस समय यह द्रष्टा पुरुष समस्त कलाओं से रहित, एकरूप, और अमर स्थिति को प्राप्त हो जाता है।

"रथ के पहिये की नाभि से जिस प्रकार अरे (तिरछे काठ) जुड़े रहते हैं, उसी प्रकार समस्त सोलहों कलाएँ—सारा विश्व-प्रपञ्च—उसी पुरुष के मूल केन्द्र से जुड़ा रहता है। जो व्यक्ति इस रूप में उस अमर पुरुष को जानता है उसे मृत्यु पीड़ा नहीं पहुँचा सकती।

"मैं इस परब्रह्म को इसी रूप में जानता हूँ। मेरे ज्ञान में इससे श्रेष्ठ दूसरा कुछ भी नहीं है।"

पिप्पलाद ऋषि का इस प्रकार का उपदेश सुनकर छहों शिष्यों ने उनकी आराधना की, और फिर बोले—

"आप निश्चय ही हम लोगों के पिता-स्वरूप हैं। आपने अविद्या के परदे को हमारी अज्ञानपूर्ण आँखों के आगे से हटाकर परब्रह्म के निश्चित स्वरूप से हमें परिचित करा दिया है। आप जैसे परम ऋषियों के प्रति हमारा बार-बार नमस्कार है।"

अंगिरा-शौनक संवाद

सारे विश्व की रचना करनेवाले, समस्त भुवनों का पालन करनेवाले ब्रह्मा सब देवताओं से पहले स्वतन्त्र रूप से उत्पन्न हुए। उन्होंने अपने सबसे बड़े पुत्र अथर्वा को ब्रह्म-विद्या का रहस्य समझाया।

अथर्वा ने ब्रह्मा से प्राप्त ब्रह्मविद्या का रहस्य अंगिरा मुनि को समझाया। अंगिरा मुनि ने भरद्वाज-गोत्रीय सत्यवाह नामक ऋषि को समझाया। सत्यवाह ने ब्रह्म-विद्या के स्थूल तथा सूक्ष्म दोनों रूपों का रहस्य अपने एक शिष्य को बताया था। उस शिष्य का नाम भी अंगिरा ही था।

शौनक नामक एक बहुत बड़े गृहस्थवाले ऋषि ने उस अंगिरा नामक मुनि से प्रश्न किया—"हे भगवन्! किस एक तत्त्व का ज्ञान प्राप्त कर लेने पर सब कुछ जाना जा सकता है?"

अंगिरा मुनि ने कहा—"जो विद्वान् लोग ब्रह्मज्ञान से परिचित हैं, उनका कहना है कि दो विद्याएँ जानने

योग्य हैं एक तो परम तत्त्व से सम्बन्धित पराविद्या, और दूसरी इहलोक और परलोक से सम्बन्धित धर्म और अधर्म तथा पाप और पुण्य का फलाफल बतानेवाली अपरा विद्या।

"ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, इन चारों वेदों के अध्ययन और उच्चारण आदि की रीति बतानेवाली, पाणिनि आदि मुनियों द्वारा रचित शिक्षा; उन वेदों में वर्णित कर्मों का अनुष्ठान करने की रीति बतानेवाले सूत्र-रूप कल्प; शब्द की शुद्धि से परिचित करानेवाला व्याकरण; वेदों के गूढ़ और कूट पदों के अर्थ का ज्ञान करानेवाला निरुक्त; वेदों में संकलित गायत्री, त्रिष्टुप आदि विविध छंदों का बोधकरनेवाला पिंगल; वैदिक कर्मों के अनुष्ठान का काल, ग्रह-नक्षत्रों की गति-विधि आदि से परिचित करानेवाला ज्योतिष—ये वेदों के छः अंग हैं, और ये सब अपरा विद्या के नाम से प्रसिद्ध हैं। अर्थात् कर्मकाण्ड तथा उपासना आदि से सम्बन्धित समस्त विद्याएँ अपरा विद्या के अंतर्गत हैं। और जिस विद्या से अविनाशी ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त होता है, वह परा विद्या है।

जो अदृश्य है, जो इन्द्रियों द्वारा पकड़ में नहीं आता, जिसकी उत्पत्ति का कोई कारण नहीं है, जो सब प्रकार के वर्णों से रहित है, जिसके आँख और कान, हाथ और पैर नहीं हैं, जो नित्य है, समस्त विश्व जिसके वश में है, जो सर्वव्यापी, सूक्ष्म से भी सूक्ष्म और आकाश आदि पाँच महाभूतों का कारण है, जिसका दर्शन केवल परम धैर्यशाली विवेकी पुरुष ही कर सकते हैं,

वही कभी नाश को प्राप्त न होनेवाला ब्रह्म है। उसका ज्ञान जो विद्या कराती है वही पराविद्या है।

"जिस प्रकार मकड़ी जाला बुनने के समय अपने भीतर से तंतुओं को बाहर निकाल कर फिर उन तंतुओं को अपने ही भीतर समेट लेती है, उसी प्रकार परमात्मा अपने भीतर से समस्त जगत् को प्रकट करके अपने ही में लीन कर लेता है। जिस प्रकार एक पृथिवी से बीजों के भेद के कारण नाना प्रकार की औषधियाँ उत्पन्न होती हैं उसी प्रकार एक ही आत्मा से विभिन्न प्रकार के प्राणी उत्पन्न होते हैं। जिस प्रकार जीवित पुरुष के शरीर में बाल उपजते हैं उसी प्रकार चेतन ब्रह्म से जड़ जगत् उत्पन्न होता है।

"बीज-रूप ब्रह्मतत्त्व का विकास और फैलाव स्वयं उसी के ज्ञान द्वारा हुआ। उसको यह ज्ञान हुआ कि 'एक मैं बहुत रूपों में प्रकट होऊँ,' और उसकी उस चेतना द्वारा विश्व की उत्पत्ति आरंभ हुई। सबसे पहले अन्न पैदा हुआ, अन्न से प्राण, प्राण से मन, मन से पंच महा-भूत, महाभूतों से समस्त लोक, और लोकों से कर्म और कर्मों से उनके फल उत्पन्न हुए।

"जो सर्वज्ञ है, अर्थात् जिससे किसी भी विषय का कोई भी ज्ञान छिपा नहीं है, जिसका तप ही ज्ञानमय है, उसी परब्रह्म से सभी प्रकार के नामों और रूपों के भेद उत्पन्न हुए।"

[२]

अंगिरा ऋषि ने कहा—"यह सत्य है कि वेदों के मंत्रों में कर्मकाण्ड के जो रूप बताये गए हैं, जो रीतियाँ

समझाई गई हैं वह नाना प्रकार से इस विश्व में फैले हुए हैं। तुम्हें चाहिये कि फल की इच्छा किये बिना, सत्य मार्ग में दृढ़ रहकर उन सब कर्मों का आचरण करो। क्योंकि अपने पिछले जन्म के कर्मों के फलस्वरूप तुम जिस संसार में उत्पन्न हुए हो उसमें तुम्हें ये सब बाहरी कर्म करने ही पड़ेंगे।

"यज्ञ की अग्नि जब पूर्ण रूप से जल उठती है, और उसकी लपटें ऊपर को उठने लगती हैं तो उसमें श्रद्धापूर्वक आहुतियों को डालना चाहिये। यही कर्म-मार्ग है।

"जिसका अग्निहोत्र नामक यज्ञ अमावस्या तथा पौर्णमासी में किये जाने योग्य कर्मों से युक्त नहीं होता, चातुर्मास्य में किये जाने योग्य कर्मों से रहित होता है, शरत्काल में नये जन्म से होनेवाले अग्रायण कर्म की विधि से युक्त नहीं होता और जिसमें अतिथियों का पूजन भी योग्य रीति से नहीं होता जो वैश्वदेव की अर्चना से रहित होता है, वह निष्फल हो जाता है।

"काली, कराली, मन के समान वेगवाली मनोजवा, लाल होने के कारण सुलोहिता, धुमैली होने के कारण सुधूम्रवर्णा, चिनगारियों से युक्त होने के कारण स्फुलिंगिनी, सब प्रकार की सुन्दरताओं से भरी होने के कारण विश्वरूपी, उज्ज्वल प्रकाश से पूर्ण होने के कारण देवी—ये सात अग्नि की लपटें उसकी जीभें हैं।

"ये लपटें उस व्यक्ति की दी हुई आहुतियों को ग्रहण करती हैं जो उचित समय पर उपयुक्त रीति से अग्निहोत्र का अनुष्ठान करता है। उन आहुतियों को

ग्रहण करने पर वे अग्निशिखाएँ सूर्य की किरणों में बदल जाती हैं, और उस व्यक्ति को उस दिव्यलोक में पहुँचाती हैं जहाँ देवताओं का एकमात्र स्वामी (इन्द्र) सबसे ऊपर रहता है।

"वे प्रज्वलित आहुतियाँ उस यज्ञ के कर्ता से मानो कहती हैं—'आओ! आओ! तुम्हारे कर्मकांड से और पवित्र अनुष्ठानों से तुम्हें दिव्यलोक प्राप्त होनेवाला है।' ऐसा कहकर सूर्य की किरणों के द्वारा उसे ऊपर ले जाती हैं।

"यज्ञ के इस सारे अनुष्ठान के सहचर यजमान को पार लगानेवाली डोंगियों की तरह हैं। पर ये डोंगियाँ न सुदृढ़ हैं और न स्थायी। इसलिये ज्ञानियों ने यज्ञों द्वारा आचरित होनेवाले कर्मों को अत्यंत हीन श्रेणी का बताया है। जिस प्रकार छोटी छोटी डोंगियाँ विशाल समुद्र के पार ले जाने योग्य नहीं होतीं और केवल मछलियाँ पकड़ने के काम में लायी जा सकती हैं, और जिस प्रकार उनमें बैठे हुए व्यक्तियों को लौटकर इसी पार आना पड़ता है, उसी प्रकार ये यज्ञरूपी छोटी नावें केवल स्वर्ग तक पहुँचाने में समर्थ होती हैं। स्वर्ग के भोग पूरे होने और कर्मफल क्षीण होने पर व्यक्ति को फिर मर्त्यलोक में ही लौटना पड़ता है। जन्म-मरण के भँवरों से ग्रस्त संसार रूपी सागर को केवल ज्ञान रूपी विशाल जलयान (जहाज़) ही पार करा सकता है। इसलिये जो मूर्ख यज्ञादि कर्मों को ही श्रेष्ठ और कल्याणकारी मानकर इसकी प्रशंसा करते हैं, वे कुछ समय तक स्वर्ग का ऐश्वर्य भोग करने के बाद फिर जन्म-मरण के

चक्र में फँसते हैं और रोग-शोक तथा दुःख-दारिद्र्य के शिकार बनते हैं।

"जो मूढ़ लोग अविद्या से ग्रस्त होकर अपने आपको बहुत बड़ा पंडित मानते हैं, और ज्ञानियों के तत्त्वोपदेश से विमुख रहते हैं, वे रोग-शोक और जरा-मृत्यु से पीड़ित होकर उसी प्रकार भ्रमजाल रूपी गड्ढों में गिरते रहते हैं जिस प्रकार एक अंधा दूसरे अंधे द्वारा बताये गये मार्ग पर चलने के कारण गिरता रहता है।

"अज्ञान के अंधकार से घिरे रहने के कारण वे बालकों के समान अबोध और मूढ़मति व्यक्ति यज्ञादि अनुष्ठानों को करते हुए अपने को कृतार्थ समझकर यह अभिमान करते फिरते हैं कि 'हमने वास्तविक सिद्धि प्राप्त कर ली है।' ऐसे कर्मकाण्डी पुरुष कर्मफल के प्रति आसक्ति या लालसा रखते हैं, और स्वर्गप्राप्ति के बाद जब उनका कर्मफल क्षीण हो जाता है तब दुःख से व्याकुल होकर नीचे गिरते हैं। वे फिर-फिर जन्म लेते हैं और फिर-फिर मरते हैं, और सच्चे ज्ञान के स्वरूप से कभी परिचित नहीं हो पाते।

"वे अज्ञानी पुरुष याग-यज्ञ आदि इष्ट कर्मों को और कुएँ और तालाब खुदवाने के 'पूर्त' कर्मों को ही परम श्रेष्ठ और मोक्ष प्राप्ति का मुख्य साधन मानते हैं, और आत्मज्ञान रूपी सच्चे श्रेयमार्ग को नहीं मानते।

"पर जो सच्चे ज्ञानी शांत-स्वभाव होकर भिक्षावृत्ति धारण करके भी वन में तप की साधना करते हैं और श्रद्धा के साथ ब्रह्म की उपासना करते हैं वे वासना रहित होकर ज्ञानरूपी सूर्य के द्वारा उस लोक में पहुँचते हैं

जहाँ अमर और अविनाशी पुरुष का अक्षय वास है।

"मोक्ष की इच्छा रखनेवाला पुरुष कर्मों के सच्चे स्वरूप से परिचित होकर विषयों को त्यागने पर ही अपने लक्ष्य को पहुँच सकता है। जिस प्रकार कर्म द्वारा अन्न आदि उत्पन्न किया जाता है, और भोग द्वारा वही अन्न नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार कर्म द्वारा रचे गये सभी प्रकार के सुख के साधन भोग करने से नष्ट हो जाते हैं। ज्ञानी पुरुष को चाहिये कि वह इस सत्य को समझकर वैराग्य को अपनावे। कर्म द्वारा उत्पन्न सभी पदार्थों की नश्वरता से परिचित होकर किसी ब्रह्मज्ञानी पुरुष की सेवा में जावे।

"उस ब्रह्मज्ञानी पुरुष को चाहिये कि वह शांत चित्त से अपने शिष्य को अविनाशी पुरुष के यथार्थ रूप को बतावे।"

[२]

अंगिरा ऋषि ने शौनक से कहा—"हे सौम्य! जिस प्रकार जलती हुई आग से सहस्रों चिनगारियाँ निकलती हैं, उसी प्रकार अविनाशी परम पुरुष से अनेकों प्रकार के जड़ तथा चेतनमय पदार्थ उत्पन्न होकर उसी में लीन हो जाते हैं।

"वह अलौकिक दिव्य पुरुष सब आकारों से रहित है; वह सबके भीतर भी वर्तमान है और बाहर भी; वह अजन्मा है (अर्थात् उसका जन्म नहीं होता); वह प्राणादि पाँच वायु से भी रहित है; उसमें नाना प्रकार की कामनाएँ करनेवाले मन नहीं हैं, वह शुद्ध, श्रेष्ठ और विनाश रहित है: वह हिरण्यगर्भ से भी श्रेष्ठ है।

"प्राण, मन, इन्द्रियाँ आदि इसी परम पुरुष से उत्पन्न हुई हैं, संदेह नहीं; तथापि इसमें उनका कोई लगाव नहीं है। उसी प्रकार आकाश, वायु, अग्नि, जल और सब कुछ धारण करनेवाली पृथिवी भी उसीसे उत्पन्न है, पर वह इन सबके भी संसर्ग से रहित है।

"हे प्रियदर्शन शौनक! इस दिव्य पुरुष का सिर अग्नि है, सूर्य और चन्द्रमा उसकी दोनों आँखें हैं, दसों दिशाएँ उसके कान हैं, चारों वेद ही उसकी वाणी के स्वरूप हैं, वायु ही उसका प्राण है, समस्त विश्व उसका हृदय है, पृथिवी उसके चरणों से उत्पन्न हुई, और वह समस्त प्राणियों का अंतरात्मा है।

"उस पुरुष से ही अग्नि उत्पन्न हुई, उस महा-अग्नि की समिधा सूर्य है। अर्थात् जिस प्रकार काष्ठ से अग्नि प्रज्वलित हो उठती है, उसी प्रकार सूर्य उस विराट् अग्नि को प्रकाशित करता है। उस अग्नि से चंद्रमा उत्पन्न होता है, और उससे बादलों की उत्पत्ति होती है, बादलों से वर्षा होती है, वर्षा से पृथिवी पर नाना प्रकार की वनस्पतियाँ उपजती हैं, और उन वनस्पतियों के विकास द्वारा पुरुष नाना प्रकार के जीवों की उत्पत्ति करता है।

"उसी अविनाशी पुरुष से ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद, सब प्रकार के यज्ञ, यजमान, दक्षिणा, संवत्सर और कर्मलोक उत्पन्न हुए, जिन्हें सूर्य और चन्द्रमा पवित्र करते हैं।

"उस पुरुष के कर्म से बहुत प्रकार के देवता उत्पन्न हुए, और उसके बाद मनुष्य, पशु, पक्षी, प्राण-अपान

आदि वायु, धान और जौ, तप और श्रद्धा, सत्य, ब्रह्मचर्य तथा कर्म के विधान उत्पन्न हुए।

"उसी से दो कान, दो आँखें, नाक के दो छेद, जीभ आदि इन्द्रियाँ, इन इन्द्रियों को प्रज्वलित करनेवाली ज्वालाएँ, विषय रूपी समिधाएँ, उन विषयों की भावनाओं को नष्ट करनेवाले सात प्रकार के ज्ञान-रूपी होम, और सात प्रकार के लोक उत्पन्न हुए। उन लोकों में हृदय-रूपी गुहा में निवास करनेवाले प्राण विचरते रहते हैं।

"उसी पुरुष से ही समुद्र और सभी पर्वत उत्पन्न हुए, और अनेकों रूप धारण करनेवाली सिन्धु, गंगा, यमुना आदि नदियाँ भी उत्पन्न हुईं, उसी से सब प्रकार की ओषधियाँ और रस उत्पन्न हुए, और उन रसों के द्वारा सूक्ष्म शरीर स्थूल पंचभूतों सहित स्थित है।

"हे सौम्य! कर्म, तप, हिरण्यगर्भ, अमृत आदि सब कुछ उसी मूल पुरुष से ही उत्पन्न है। समस्त प्राणियों के अन्तःकरण रूपी गुहा में स्थित उस परमब्रह्म को जानकर जो व्यक्ति यह समझ लेता है कि उस पुरुष से भिन्न विश्व में कोई भी पदार्थ नहीं है, वह अविद्या के मायाजाल को नष्ट करने में समर्थ होता है।"

[४]

अंगिरा ऋषि बोले—"हे शौनक! यह अविनाशी ब्रह्म स्वयं अपनी ज्योति से प्रकाशमान है, यह सब प्राणियों का अन्तर्यामी है। यह हृदय-रूपी गुहा में विचरण करता है, इसलिये इसका नाम गुहाचर है।

यह समस्त जीवों का आश्रय-स्वरूप है। उड़नेवाले जीव प्राणवायु को ग्रहण करनेवाले तथा पलक मारने की क्रिया करनेवाले सब प्राणी—ये सब इसी के आश्रय से स्थित हैं। यह सत् है और असत् भी। यह स्थूल और सूक्ष्म दोनों प्रकार के पदार्थों का मूल कारण है। यह परम पूजनीय और प्राणियों के ज्ञान से परे है—अर्थात् मनुष्य का कोई भी ज्ञान उसके यथार्थ स्वरूप के हृदयंगम करने में समर्थ नहीं हो सकता।

"यह जो कुछ भी प्रकाशवान् है, जो अणु का भी अणु, सूक्ष्म से भी सूक्ष्म है, जिसमें समस्त लोकों के निवासी स्थित हैं, वही अविनाशी ब्रह्म है। वही प्राण है, वही वाणी है, वही मन है, वही सत्य है, वही अमृत है, वह जानने योग्य है। हे सौम्य! तुम उसे जानने का प्रयत्न करो।

"उपनिषद् में वर्णित ज्ञान के महास्त्र-रूप धनुष को ग्रहण करके उपासना द्वारा सान पर चढ़ाये गये बाण को उस पर चढ़ाना चाहिये। ब्रह्म को लक्ष्य बनाकर एकाग्र चित्त से उस परम लक्ष्य को वेधना उचित है।

"प्रणव (ओंकार) ही धनुष है, आत्मा ही बाण है, ब्रह्म लक्ष्य है। एकाग्र मन से उस लक्ष्य को बेधते हुए बाण के समान उसमें तन्मय और तद्गत होना चाहिये। अर्थात् जिस प्रकार तीर निशाने के भीतर जाकर घुस जाता है उसी प्रकार साधक को चाहिये कि वह ब्रह्म में लीन होने का प्रयत्न करे।

"जिस परम आत्मा में स्वर्ग, पृथिवी और अन्तरिक्ष, समस्त प्राण और मन—ये सब जुड़े हुए हैं, केवल

उसी को जानने की चेष्टा करो। अन्य सब विषयों के ज्ञान को छोड़ दो। केवल-मात्र वह अमर आत्मा ही मोक्ष के लिये सेतु-स्वरूप है।

"जिस हृदय में सब नाड़ियाँ रथ की नाभि में तिरछे काठों की तरह एकीभूत होती हैं, वही यह आत्मा नाना रूपों से विराजमान रहता है। ओङ्कार के रूप में उस आत्मा का ध्यान करना चाहिये, तभी तुम अविद्या-रूपी अंधकार से पार निकलकर कल्याण प्राप्त कर सकोगे।

"जो सब कुछ जाननेवाला है, जिसके भीतर और बाहर कुछ भी छिपा नहीं है, जिसकी महिमा सर्वत्र, समस्त लोकों में फैली हुई है, वह आत्मा दिव्य, ज्योतिर्मय, हृदय रूपी ब्रह्मनगर में विद्यमान है, और समस्त आकाश में व्याप्त है। वह मनोमय है और प्राण तथा शरीर का समुचित संबंध स्थापित करनेवाला, नियामक है। अन्न और बुद्धि, स्थूल तथा सूक्ष्म में उचित सामंजस्य स्थापित करनेवाला भी यही है। समस्त विश्व में जो कुछ भी प्रकट और प्रकाशित हो रहा है सब उसी के आनन्द का अमृतमय स्वरूप है। धीर लोग ज्ञान द्वारा उसके उस अनंत व्यापी रूप का दर्शन करते हैं।

"कारण-रूप और कार्य-रूप ब्रह्म के दर्शन हो जाने पर हृदय की सब गाँठें खुल जाती हैं, और सब संशय नष्ट हो जाते हैं। सब प्रकार के शुभाशुभ कर्मों के फल भी क्षीण होकर मोक्ष प्राप्त होता है।

"परम श्रेष्ठ ज्योतिर्मय कोष में अविद्या आदि के मल से रहित, सोलह कलाओं के आकार प्रकार से मुक्त निष्कलंक अखण्ड ब्रह्म निखिल विश्व में व्याप्त है। वह शुद्ध है

और सब प्रकार के प्रकाशों का प्रकाशक है। उसे केवल आत्मज्ञानी ही जान सकते हैं।

"उसे न सूर्य प्रकाशित कर सकता है, न चन्द्रमा। तारागण भी उसे ज्योति प्रदान करने में असमर्थ हैं। बिजलियाँ भी उसके आगे निस्तेज हैं, अग्नि की तो बात ही क्या है! उसीके तेज से ये सब प्रकाशित होती हैं।

"वह अमृतस्वरूप ब्रह्म पूर्व में व्याप्त है, वही पश्चिम में है, दक्षिण और उत्तर की दिशाओं में भी वही व्याप रहा है। वही नीचे फैला हुआ है और वही ऊपर अपने स्वरूप का विस्तार किये हुए है। वह परम श्रेष्ठ ब्रह्म ही समस्त विश्व के रूप में भासित हो रहा है।"

[५]

अंगिरा ऋषि ने कहा—"हे शौनक! जीव और ईश्वर सदा साथ-साथ मित्रतापूर्वक रहनेवाले दो पक्षियों के समान शरीर-रूपी एक ही आश्रय ग्रहण किये हुए हैं। उनमें से एक (जीव) मोह से उत्पन्न सुख-दुःखमयी भावना रूपी फल को स्वाद के साथ भक्षण करता है (अर्थात् भोगता है), और दूसरा निर्लिप्त और निःसंग भाव से रहकर, फल को बिना भोगे ही अपने सखा का फल-भोग देखता रहता है।

"भोग करनेवाला जीव उस वृक्ष के प्रति आसक्त होकर काम, क्रोध आदि की भावनाओं में निमग्न हो रहा है। सांसारिक विषयों में लिप्त होकर, धन-रत्न, पुत्र-पौत्र आदि को ही परम सत्य समझकर मोहवश उनके प्रति ममता के भाव को त्यागने में असमर्थ हो रहा है।

और जब उनमें से किसी के विनाश या वियोग का दुःख उस पर आ टूटता है, तो वह शोकमग्न होकर विलाप करने लगता है। पर जब वही (जीव) अपने सखा की महिमा को, उसकी संग-रहित शुद्ध बुद्धि की महिमा को देखता है, तब वह शोक से रहित हो जाता है।

"जब ज्ञानी साधक ज्योतिर्मय कर्ता, ब्रह्म का, परम-पुरुष ईश्वर का दर्शन करता है, तो वह पाप और पुण्य से युक्त दोनों प्रकार के कर्मों को त्यागकर, शुद्ध और निर्मल हो जाता है, और अद्वैत की भावना से ओतप्रोत होकर परम समता को प्राप्त करता है।

"जो प्राणों का भी प्राण है, और जो समस्त जीवों में विराज रहा है, उसी महाप्राण ब्रह्म को जानने वाला व्यक्ति सम्यक् विचारवाला होता है। वह समदृष्टि रखता है। वह आत्मा में ही रमनेवाला, और साथ ही निर्लिप्त भाव से कर्म करनेवाला, फल की इच्छा से रहित होता है। वह ब्रह्मज्ञानियों में श्रेष्ठ होता है।

"ज्योतिर्मय रूप शुद्ध आत्मा शरीर के भीतर, अंतःकरण में वर्तमान रहता है। उसे केवल सब प्रकार के दोषों से रहित त्यागी पुरुष ही देख पाते हैं। यह सत्य से, ब्रह्मचर्य से, और यथार्थ ज्ञान से प्राप्त होता है।

"जय केवल सत्य ही की होती है, मिथ्या की नहीं। सत्य से ही मनुष्य के लिये देवमार्ग खुला हुआ रहता है। उस दिव्य मार्ग के द्वारा सब प्रकार की तृष्णाओं से मुक्त पूर्णकाम ऋषि (जिनके मन में किसी प्रकार की कामना शेष न रह गयी हो) वहाँ पहुँचते हैं, जहाँ सत्य-रूप ब्रह्म का परम धाम है।

लोक में जाने की इच्छा करता है उसी लोक को प्राप्त कर लेता है, जिस प्रकार के सुखभोग को चाहता है उसकी निश्चय ही पूर्ति हो जाती है, इसलिये ऐश्वर्य की कामना करनेवाले व्यक्ति को चाहिये कि वह आत्म-ज्ञानी के प्रति श्रद्धा का भाव प्रदर्शित करे।"

[६]

अंगिरा ऋषि बोले—"हे प्रियदर्शन शौनक! आत्म-ज्ञानी सब प्रकार की कामनाओं के आश्रय परमब्रह्म-धाम को जानता है। उस परम धाम में यह सारा विश्व स्थित है। यह अपने शुभ्र प्रकाश से सब समय भासित होता रहता है। जो पुरुष उस ब्रह्म की उपासना सब प्रकार की इच्छाओं से रहित होकर करते हैं वे जन्म-मरण के चक्कर से मुक्त हो जाते हैं।

"जो पुरुष सुखभोग के विषयों की चिंता करता हुआ उन्हें प्राप्त करने की इच्छा मन में रखता है, वह कामनाओं के साथ विशेष-विशेष लोकों में जन्म लेता है। पर जो व्यक्ति सब प्रकार की कामनाओं को त्याग कर पूर्णकाम हो जाता है, उसके आगे आत्मा का प्रकाश भासित हो जाता है। उसकी अच्छे या बुरे कर्मों की सब प्रवृत्तियाँ इस शरीर में ही विलीन हो जाती हैं।

"यह आत्मा न वेदों के पाठ से प्राप्त हो सकती है, न मस्तिष्क की शक्ति द्वारा और न शास्त्रों के अध्ययन अथवा श्रवण द्वारा, पर जिस कामना-रहित दिव्य ज्ञान-संपन्न पुरुष के आगे यह आत्मा अपने-आप अपना विशुद्ध प्रकाशमय रूप व्यक्त करती है केवल वही उसे प्राप्त करने में समर्थ है।

"जिस व्यक्ति में आत्मबल नहीं है उसे यह प्राप्त नहीं हो सकती। मद से अथवा ज्ञानरहित तपस्या द्वारा भी इसे नहीं जाना जा सकता। परंतु जो ज्ञानी पुरुष आत्मबल, अप्रमाद और ज्ञानयुक्त तपस्या द्वारा मनन करने की चेष्टा करता है, वह ब्रह्मधाम में प्रवेश करके आत्मा के दिव्य स्वरूप का दर्शन करता है।

"उस ब्रह्म स्वरूप का दर्शन पाकर ऋषि लोग सब प्रकार की लालसाओं से रहित होकर परम शांति को प्राप्त करते हैं। वे अचंचल-चित्त धीर-पुरुष सर्वव्यापी ब्रह्म को सर्वत्र देखते हुए उस सर्वरूप में प्रवेश करते हैं।

"वेदान्त द्वारा प्राप्त हुए ज्ञान के निश्चित तत्त्व से परिचित और संन्यास-योग द्वारा शुद्धचित्त होकर, परम अमरता को प्राप्त हुए वे सब तपस्वीगण शरीर को त्याग करने पर ब्रह्मलोक में जाकर मुक्त हो जाते हैं।

"उनके प्राण आदि की पन्द्रह कलाएँ अपने-अपने कारण में जाकर लीन हो जाती हैं, उनकी सब इन्द्रियाँ अपने-अपने कारण-रूप सूर्यादि देवताओं में जाकर विलीन हो जाती है, उनकी कर्ममयी और विज्ञानमयी आत्मा परम आत्मा के अविनाशी तत्त्व के साथ मिलकर एकरूप हो जाती है।

"जिस प्रकार गतिशील नदियाँ नाम और रूप को त्यागकर समुद्र में लीन हो जाती हैं, उसी प्रकार विवेकी पुरुष भी नाम और रूप के बंधन से मुक्त होकर दिव्यात्मा को प्राप्त करता है।

"जो उस ब्रह्म को भली भाँति जान लेता है, वह स्वयं भी ब्रह्म-रूप हो जाता है। उसके कुल में कोई भी ब्रह्म को न जाननेवाला व्यक्ति उत्पन्न नहीं होता। वह सब प्रकार रोग-शोक और दुःख-दारिद्र्य से छुटकारा पाकर, गुहा के समान गहन अंतर्मन की समस्त गाँठों से मुक्त होकर अमर पद को प्राप्त होता है।"

इस प्रकार अंगिरा ऋषि ने यह आत्म-विज्ञान शौनक ऋषि को समझाया था। जिन्होंने सच्ची साधना के मार्ग को नहीं अपनाया वे इस विज्ञान को नहीं पढ़ पाते (अर्थात् नहीं समझ पाते)।

भृगु का ब्रह्मज्ञान-लाभ

विख्यात महर्षि वरुण के पुत्र भृगु के मन में ब्रह्म को जानने की इच्छा उत्पन्न हुई। वह अपने पिता, वरुण के पास गया और बोला—"भगवन्! मुझे ब्रह्मविद्या की शिक्षा दीजिए जिससे मुझे ब्रह्म-तत्त्व का पूर्ण ज्ञान प्राप्त हो जावे।"

वरुण ने अपने पुत्र की हार्दिक आकांक्षा से परिचित होकर कहा—"अन्नमय शरीर तथा उस शरीर के भीतर प्राण, आँखें, कान, वाणी और मन इन सबको ब्रह्मज्ञान का द्वार जानो। ब्रह्मा से लेकर तृण पर्यंत सब भूत जिस-से उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होने पर जिसकी सत्ता से जीवित रहते हैं, अन्त में जिसके भीतर प्रवेश करते हैं और तद्गत होकर लीन हो जाते हैं उसे विशेष रूप से जानने की इच्छा करनी चाहिये।"

भृगु ने जब अपने पिता से इस प्रकार की बात सुनी तो वह ब्रह्म का ध्यान करने के उद्देश्य से तप करने लगा। तप करने पर उसे यह बोध हुआ कि अन्न ब्रह्म है,

क्योंकि अन्न से ही ये सब प्राणी उत्पन्न होते हैं, अन्न से ही जीवन धारण करते हैं और फिर अन्न में ही जाकर प्रवेश करते हैं।

जब उसे यह ज्ञान प्राप्त हुआ तो वह फिर अपने पिता महर्षि वरुण के पास गया और बोला—"भगवन् ! मुझे ब्रह्म-तत्त्व की शिक्षा फिर से दीजिए।"

पिता ने कहा—"इन्द्रियों की बाहरी वृत्तियों को भीतर की ओर करके तप द्वारा तत्त्व-चिन्तन करो। तप से ही ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति हो सकती है।"

भृगु ने जब यह सुना तो वह फिर तप करने लगा। तप करने से उसने जाना कि प्राण ही ब्रह्म है, क्योंकि प्राण से ही समस्त प्राणी जन्म लेते हैं, प्राण ही के द्वारा जीवन धारण करते हैं और फिर प्राण ही में जाकर लीन हो जाते हैं।

इतना जान लेने के बाद वह फिर अपने पिता वरुण के पास गया और बोला—"भगवन् ! मुझे ब्रह्म-विषय की शिक्षा दीजिए।"

वरुण ने कहा—"तप ही ब्रह्म को जानने का एक-मात्र उपाय है, इसलिये तुम तप करते रहो।"

भृगु फिर तपस्या में रत हो गया, तपस्या करने पर उसे यह बोध हुआ कि मन ही ब्रह्म है, और मन से ही ये सब प्राणी उत्पन्न होते हैं, मन ही के द्वारा वे जीते हैं और मन ही में जाकर विलीन हो जातेहैं ।

इतना ज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् वह भृगु फिर अपने पिता के पास गया और बोला—"भगवन् ! मुझे ब्रह्म-विद्या की शिक्षा दीजिए।

वरुण बोले—"सौम्य! तपस्या द्वारा ही ब्रह्म को जाना जा सकता है, इसलिए तुम निरंतर तप करते चले जाओ।"

भृगु फिर तपस्या करने लगा। उग्र तपस्या के फल-स्वरूप उसने जाना कि विज्ञान ही ब्रह्म है, और विज्ञान से ही ये समस्त प्राणी उत्पन्न हुए हैं, विज्ञान से ही वे जीवन धारण किये हुए हैं और अन्त में विज्ञान में ही प्रवेश करके उसमें विलीन हो जाते हैं।

यह जानने के पश्चात् वह फिर अपने पिता महर्षि वरुण के पास गया और बोला—"भगवन! मुझे इसके आगे ब्रह्म-विद्या की शिक्षा दीजिए।"

वरुण बोले—"तपस्या द्वारा ही तुम ब्रह्म का रहस्य जान सकते हो, इसलिए और अधिक तप करो।"

भृगु ने पिता की बात मान ली और वह फिर तप में जुट गया। तप करते करते उसे बोध हुआ कि आनन्द ही ब्रह्म है, और उसी से इन सब प्राणियों की उत्पत्ति होती है, उसी के द्वारा सब प्राणी जीवन धारण करते हैं, और अन्त में उसी में जाकर विलीन हो जाते हैं।

वरुण द्वारा भृगु ने जो यह ब्रह्मज्ञान प्राप्त किया वह परम अन्तर-आकाश में स्थित है। जो व्यक्ति उसे जान लेता है वह परमब्रह्म में स्थित हो जाता है। वह अन्त में अन्न से युक्त होता है, अन्न का भोग करने में समर्थ होता है, सन्तान-सुख प्राप्त करता है, पशुओं से तृप्त होता है और ब्रह्मतेज द्वारा महान् होकर अमित कीर्ति प्राप्त

सृष्टि की कहानी

यह जगत् पहले एकमात्र आत्मा ही था। आत्मा के अतिरिक्त वह और कुछ भी नहीं था। उस परम आत्मा ने विचार किया—"क्या मैं लोकों को उत्पन्न करूँ ?"

यह विचार करने के पश्चात् उसने अम्भ, मरीचि, मर और आप इन लोकों की रचना की। जल को धारण करनेवाला 'अम्भ' नाम का लोक स्वर्ग से परे है। स्वर्ग से नीचे जो अन्तरिक्ष लोक है उसका सूर्य की किरणों से सम्बन्ध होने से वह 'मरीचि' नाम से प्रसिद्ध है। जिस लोक में कोई भी प्राणी जन्म लेने के बाद अमर नहीं रहता वह 'मर' नामक लोक यही पृथ्वी-लोक है। पृथ्वी से नीचे जो लोक है वह जलमय होने के कारण 'आप' नाम से विख्यात है।

उसने सोचा—"इन लोकों की सृष्टि तो मैंने कर दी, परन्तु इसका कोई रक्षक न होने से ये नष्ट हो जावेंगे। इसलिए इनकी रक्षा के निमित्त लोकपालों की सृष्टि होनी चाहिये।" यह विचार कर उसने जल आदि पंच

भूतों से विराट् पुरुष की रचना की और उसमें चेतना का संचार कर दिया।

उसने उस विराट् पुरुष के सम्बन्ध में अपने विचार को केन्द्रित किया। उसके संकल्प करने से पक्षी का अंडा फूटने के समान उस पुरुष का मुख फूटकर निकला। मुख में से वाणी निकली, वाणी से अग्नि और नाक के दोनों नथने निकले। नाक में से प्राण और प्राण में से वायु निकला। आँखों के दो गोलक निकले, और उन गोलकों में से चक्षु उत्पन्न हुए। चक्षुओं से सूर्य निकला, कानों के दो छिद्र निकले और उन छिद्रों में से कर्णेन्द्रिय निकला। कर्णेन्द्रिय से दिशाएँ उत्पन्न हुईं, चर्म उत्पन्न हुआ। चर्म में से रोम और रोम में से ओषधियाँ और वनस्पतियाँ उत्पन्न हुईं। हृदय उत्पन्न हुआ। हृदय से मन और मन से चन्द्रमा निकला। नाभि उत्पन्न हुई। नाभि से अपान वायु और अपान वायु से मृत्यु की उत्पत्ति हुई।

लोकपालों के रूप में रचे गये अग्नि आदि देवता इस विशाल संसार-सागर में गिरे। उन्हें परमात्मा ने भूख और प्यास से युक्त किया। उन्होंने सृष्टिकर्ता परमात्मा से कहा—"हमारे लिये एक ऐसे आकार की रचना कीजिये जिसमें स्थित हो हम अन्न खा सकें।"

स्रष्टा ने जब देवताओं की इस तरह की बात सुनी तो उसने उनके आगे गाय के आकार सा एक पिण्ड लाकर रख दिया। देवताओं ने उस पिण्ड को देखकर कहा—"यह हम लोगों के लिये उपयुक्त नहीं है।"

स्रष्टा ने उसके बाद घोड़े के आकार का एक पिण्ड उन लोगों के आगे लाकर खड़ा कर दिया, उसे देखकर देवता बोले—"यह भी हम लोगों के लिये उपयुक्त नहीं है।"

तब स्रष्टा ने उनके आगे मनुष्य के आकार का एक पिण्ड लाकर रख दिया। उसे देखकर देवता कहने लगे—"यह परम सुन्दर है।" स्रष्टा ने उनसे कहा—"तुम इस पुरुष के भीतर अपने-अपने योग्य स्थानों में प्रवेश करो।"

यह सुनकर अग्नि ने वाणीरूप होकर मुख में प्रवेश किया, वायु ने प्राणरूप होकर नाक के दोनों नथनों में प्रवेश किया, आदित्य ने चक्षुरूप से दोनों आँखों के भीतर अपने लिये स्थान बना लिया, दिशायें कर्णेन्द्रिय के रूप में दोनों कानों के भीतर जा पहुँचीं, चन्द्रमा ने मन बनकर हृदय में प्रवेश किया और भृगु ने अपान बनकर नाभि में प्रवेश किया।

इसके बाद भूख और प्यास ने स्रष्टा से कहा—"हमारे लिये भी कोई उपयुक्त स्थान रचो।" स्रष्टा बोला—"मैं इन्हीं देवताओं के साथ तुम्हारे रहने की व्यवस्था करता हूँ, तुम्हें इन्हीं के साथ भाग पानेवाला बनाता हूँ।" इस कारण जिस किसी भी देवता के उद्देश्य से हविष्यान्न अर्पित किया जाता है, भूख और प्यास उसके साथ भाग लेनेवाले होते हैं।"

उसके पश्चात् परमात्मा ने सोचा—"मैंने जब इन सब लोकों और लोकपालों की रचना की है तो मुझे इनके लिये अन्न की भी सृष्टि करनी चाहिये।"

ऐसा विचार करके उसने यह इच्छा की कि जल आदि पंचभूतों से अन्न उत्पन्न हो जाय। परमात्मा की इस इच्छा से अन्नरूप चर और अचर मूर्तियाँ उत्पन्न हुईं। अर्थात् मनुष्य के समान जो प्राणी धान्य आदि खाकर जीवन धारण करते हैं उनके लिये अचर और जो हिंसक जीव प्राणियों का भक्षण करके जीते हैं उनके लिये चर (जैसे मकड़ी के लिये मक्खी, बिल्ली के लिये चूहा आदि) की उत्पत्ति हुई।

लोकपालों के आगे छोड़ा हुआ यह अन्न नहीं चाहता था कि उसे कोई भक्षण करे। इसलिये पीछे को हट कर भागने लगा, ठीक जिस प्रकार बिल्ली के भागने से चूहा पीछे को हटता है।

विराट् पुरुष ने उस अन्न को वाणी द्वारा ग्रहण करने की चेष्टा की पर वह उसे वाणी द्वारा ग्रहण न कर सका। यदि ऐसा कर सकता तो लोग मुख से केवल 'अन्न' शब्द का उच्चारण करके ही तृप्त होकर रह जाते।

इसके बाद उसने उसे घ्राणशक्ति द्वारा—केवल सूँघ-कर—ग्रहण करना चाहा। पर वह ऐसा न कर सका। यदि वह उसे केवल सूँघकर ग्रहण कर सकता तो सब लोग अन्न को केवल सूँघकर ही तृप्त हो जाते।

उसके बाद उसने आँख से उसे ग्रहण करने की चेष्टा की। पर वह ऐसा न कर सका। यदि वह ऐसा करने में समर्थ हो जाता तो सब लोग अन्न को केवल देखकर ही तृप्त हो जाते।

उसके पश्चात् उसने अन्न को कान से ग्रहण करना चाहा पर वह ऐसा न कर सका। यदि वह ऐसा कर

पाता तो सब लोग कान से 'अन्न' शब्द सुनकर ही तृप्त हो जाते।

उसके पश्चात् उसने त्वचा से अन्न को ग्रहण करना चाहा। किंतु वह ऐसा नहीं कर सका। यदि वह ऐसा कर पाता तो सब लोग अन्न को केवल छूकर ही तृप्त हो जाते।

उसके बाद उसने अन्न को मन द्वारा ग्रहण करने का प्रयत्न किया। पर वह ऐसा न कर सका। यदि वह ऐसा कर पाता तो सब लोग अन्न का केवल ध्यान करके ही तृप्त हो जाते।

उसके पश्चात् उसने उस अन्न को अपान वायु—अर्थात् मुख के भीतर से नीचे को जानेवाले वायु—द्वारा ग्रहण करने का प्रयत्न किया। इस उपाय से वह अन्न को ग्रहण करने में समर्थ हुआ। इस अपान वायु द्वारा ही जीव अन्न को भक्षण करने में समर्थ होता है।

तब सृष्टिकर्त्ता ने सोचा—"मेरे बिना यह सारा जीवन-चक्र कैसे स्थिर रहेगा? मुझे भी जीव के भीतर प्रवेश करना चाहिए। तब किस द्वार से मैं जीव के भीतर प्रवेश करूँ?" साथ ही उसने यह भी विचार किया कि "जब वाणी बोलने में समर्थ है, घ्राणेन्द्रिय सूँघने की शक्ति रखती है, कान सुन लेते हैं, त्वचा स्पर्श करने में समर्थ है, मन विचार कर लेता है, अपान वायु भक्षण कर सकता है, तो मेरे लिये कहाँ स्थान रह गया?"

यह विचार करके उसने सिर के बालों के दो भाग करने की सीमा-रेखा को चीरकर मस्तिष्क में प्रवेश

किया। यह विदृति नामक ब्रह्मरंध्ररूपी द्वार आनंद को अनुभव करनेवाला है। उसके तीन स्थान हैं, जो तीनों स्वप्नरूप हैं। जागृति, स्वप्न और सुषुप्ति में—जीव की ये तीन अवस्थाएँ होती हैं। पर जाग्रत अवस्था में भी ज्ञान-रहित जीव एक प्रकार के स्वप्न में ही विचरण करता रहता है। इस कारण तीनों अवस्थाएँ स्वप्न के समान ही बतायी गयी हैं।

उसने समस्त प्राणियों के शरीर के भीतर प्रवेश करके "मैं मनुष्य हूँ, मैं पशु हूँ, मैं सुखी हूँ, मैं दुखी हूँ" इस प्रकार अनुभव करके उसने सब प्राणियों के साथ अपने तादात्म्य का अनुभव किया। उसने प्राणियों के शरीर में अपने से भिन्न किसी को नहीं माना, और अपने को ही आकाश के समान व्यापक विश्वात्मा के रूप में देखा और कहने लगा—"मैंने अपनी इस सारी सृष्टि में अपने ही स्वरूप का दर्शन किया है। मैंने इसको (इदम्) भली-भाँति देख लिया है।"

इस कारण परमात्मा का नाम 'इदन्द्र' (इसको—इस विश्वव्यापी अपने रूप को—देखनेवाला) हुआ। इसी नाम को परोक्ष रूप से 'इन्द्र' कहते हैं, क्योंकि प्रत्यक्ष रूप से उस महामहिम अनादि पुरुष का पूरा नाम लिया जाना उचित नहीं समझा जाता।

ब्रह्मज्ञानी सत्यकाम

प्राचीन काल में जबाला नाम की एक दरिद्रा स्त्री अपने लड़के सत्यकाम के साथ किसी एक गाँव में रहती थी। जब सत्यकाम कुछ बड़ा हुआ, तो एक दिन उसने अपनी माँ से कहा—"माँ, ब्रह्मचारी के रूप में किसी गुरु की चरणसेवा करके ज्ञान प्राप्त करना चाहता हूँ। मुझे बताओ कि मेरा गोत्र क्या है?"

जबाला ने उत्तर दिया—"बेटा मुझे नहीं मालूम कि तुम्हारा गोत्र क्या है। अपनी युवावस्था में जब मैंने तुम्हें पाया तब मैं बहुत-से व्यक्तियों की सेवा में व्यस्त रहा करती थी, इसलिये मैं इस बात का पता न लगा सकी कि तुम्हारा गोत्र क्या है। यदि तुमसे पूछा जाय कि तुम कौन हो, तो केवल इतना ही बता देना कि तुम जबाला के पुत्र सत्यकाम हो।"

इसके बाद सत्यकाम गौतम गोत्रीय हारिद्रुमत नामक मुनि के पास पहुँचा और बोला—"भगवन्! मैं आप की सेवा में एक ब्रह्मचारी के रूप में रहना चाहता हूँ।"

मुनि ने पूछा—"वत्स, पहले यह तो बताओ कि तुम्हारा गोत्र क्या है?"

सत्यकाम ने उत्तर दिया—"भगवन् ! मुझे नहीं मालूम कि मेरा गोत्र क्या है। मैंने इस विषय में अपनी माता से पूछा था। उन्होंने कहा—'अपनी युवावस्था में मैं बहुत-से व्यक्तियों की चरण-सेवा में व्यस्त रहा करती थी, इसलिये जान न पाई कि तुम्हारा गोत्र क्या है। मैं केवल इतना जानती हूँ कि मेरा नाम जबाला है और तुम्हारा सत्यकाम।' मैं वही सत्यकाम जाबाल हूँ।"

हारिद्रुमत मुनि ने जब सत्यकाम की यह बात सुनी, तो वह बोले—"एक सच्चे ब्राह्मण के सिवा दूसरा कोई भी व्यक्ति इस प्रकार की सच्ची बात नहीं कह सकता, जैसी तुमने कही है। तुम सत्य से नहीं डिगे, इसलिये मैं तुम्हें ब्रह्मचर्य धर्म में अवश्य दीक्षित करूँगा। आओ तुम यज्ञ के लिये काष्ठ संग्रह करो।"

सत्यकाम को इस प्रकार की आज्ञा देकर मुनि ने चार सौ दुबली-पतली रुग्ण गायें इकट्ठा कीं। इकट्ठा करने के बाद उन्होंने सत्यकाम से कहा—"वत्स, आज से तुम इन गायों की सेवा में जुट जाओ।"

सत्यकाम ने उन गायों की सेवा का भार ग्रहण करते हुए गुरु से कहा—"जब तक ये गायें हृष्टपुष्ट न हो जायँ, और इनकी संख्या बढ़कर एक हज़ार न हो जाय, तब तक मैं आपकी सेवा में लौटकर नहीं आऊँगा।"

यह कहकर वह उन गायों को अपने साथ लेकर वहाँ से चला गया। कई वर्षों तक वह पूरी शक्ति से

उनकी सेवा करता रहा। गायें हृष्टपुष्ट हो गईं और धीरे-धीरे उनकी संख्या एक हज़ार हो गई।

[२]

तब एक दिन उन्हीं में से एक दिव्यात्मा बैल ने सत्यकाम को पुकारकर कहा—"सत्यकाम!" सत्यकाम बोला—"भगवन्! क्या आज्ञा है?" बैल ने कहा—"अब हमारी संख्या एक सहस्र हो गई है, इसलिये अब तुम हमें अपने गुरु के पास ले चलो। पर इसके पहले मैं तुम्हें ब्रह्म के स्वरूप के संबंध में एक विशेष बात बता देना चाहता हूँ।"

सत्यकाम बोला—"अवश्य बताइए।"

दिव्यात्मा बैल ने कहा—"ब्रह्म के चार चरणों में से एक का नाम प्रकाशवान् है। उस चरण की चार कलाएँ हैं। पहली कला पूर्व दिशा है, दूसरी पश्चिम दिशा, तीसरी दक्षिण दिशा और चौथी उत्तर दिशा। जो व्यक्ति ब्रह्म के उस कलावाले चरण का सच्चा स्वरूप जान उसकी उपासना करता है वह प्रकाशवान् लोक को प्राप्त होता है। ब्रह्म के दूसरे चरण के महत्त्व से तुम्हें अग्नि देवता परिचित करावेगा।"

दिव्यात्मा ऋषभ (बैल) की इस प्रकार की दिव्य वाणी सुनकर सत्यकाम ने अपनी गायों को साथ लेकर अपने गुरु के यहाँ जाने के उद्देश्य से प्रस्थान किया। जब रात हुई तो वह रास्ते में एक स्थान पर ठहर गया। गायों को एक सुरक्षित स्थान में बाँधकर उसने आग जलाई और पूर्व की ओर मुख करके अग्नि के निकट बैठ गया।

सहसा अग्निदेव ने अपनी दीप्त वाणी से उसे पुकारते हुए कहा—"सत्यकाम !"

सत्यकाम हाथ होड़कर बोला—"भगवन् ! क्या आज्ञा है ?"

अग्नि ने कहा—"वत्स ! मैं तुम्हें ब्रह्म के द्वितीय चरण का महत्त्व समझाऊँगा ।"

सत्यकाम बोला—"अवश्य समझाइए, भगवन् !"

अग्नि ने कहा—"सौम्य, ब्रह्म के दूसरे चरण की एक कला पृथिवी है, दूसरी कला अन्तरिक्ष है, तीसरी कला दिव्य प्रकाशमय द्युलोक है और चौथी कला समुद्र है। वत्स, ये चार कलाएँ ब्रह्म के जिस चरण की हैं उसका नाम है अनंतवान् ! जो व्यक्ति इस चरण के अनंत रूप से परिचित होकर उसकी उपासना करता है वह दिव्य और अमर लोकों पर विजय पाकर स्वयं अनंत और अविनाशी बन जाता है । हंस (सूर्य) तुम्हें ब्रह्म के तीसरे चरण का महत्त्व समझावेगा ।"

[३]

जब प्रातःकाल हुआ तो सत्यकाम ने अपनी गायों के साथ गुरु-गृह की ओर फिर प्रस्थान किया । जब रात हुई तो उसने एक सुरक्षित स्थान पर डेरा डाला और गायों को बाँधकर आग जलाई । उसके बाद पूर्व की ओर मुख करके अग्नि के निकट बैठ गया ।

इसके बाद सूर्य अपना ज्योतिर्मय रूप लेकर उसके आगे प्रकट हुआ, और बोला—"सत्यकाम !"

सत्यकाम ने कहा—"भगवन् ! क्या आज्ञा है ?"

सूर्य बोला—"मैं तुम्हें ब्रह्म के तीसरे चरण का महत्त्व समझाऊँगा।"

सत्यकाम ने कहा—"अवश्य समझाइए, भगवन्!"

"ब्रह्म के तीसरे चरण का नाम ज्योतिष्मान् है। अग्नि उसकी एक कला है, सूर्य दूसरी कला, चन्द्र तीसरी कला और बिजली चौथी कला है। जो व्यक्ति इस ज्योतिष्मान् चरण का महत्व समझकर उसकी उपासना करता है वह ज्योतिर्मय लोकों पर विजय पाता है और स्वयं भी ज्योतिर्मय बन जाता है। मद्गु (वायु) तुम्हें ब्रह्म के चौथे चरण का महत्व समझावेगा।"

[४]

दूसरे दिन प्रातःकाल सत्यकाम ने फिर अपनी गायों के साथ गुरु-गृह की ओर प्रस्थान किया। जब रात हो आई तो उसने एक सुरक्षित स्थान पर डेरा डाला, और गायों को बाँधकर आग जलाई। उसके बाद वह पूर्व की ओर मुख और आग की ओर पीठ करके बैठ गया।

उसी समय वायु उसके आगे प्रकट हुआ और बोला—"सत्यकाम।"

सत्यकाम ने कहा—"भगवन्! क्या आज्ञा है?"

वायु ने कहा—"सौम्य, मैं तुम्हें ब्रह्म के चौथे चरण का महत्त्व समझाऊँगा।"

सत्यकाम बोला—"अवश्य समझाइए, भगवन्!"

वायु ने कहा—"ब्रह्म के चौथे चरण का नाम आयतनवान् है। उसकी एक कला प्राण है, दूसरी कला चक्षु है, तीसरी कला कान है और चौथी कला मन है। जो व्यक्ति इस अनन्त आयतन (विस्तारवाले) चरण का

महत्त्व समझकर उसकी उपासना करता है वह अनंत में अपना विस्तार फैला देता है और अनंत विस्तृत लोकों पर विजय प्राप्त करता है।"

[५]

अंत में जब सत्यकाम गुरु के पास पहुंचा, तो गुरु ने कहा—"सौम्य !"

सत्यकाम बोला—"भगवन् ! क्या आज्ञा है।"

गुरु ने कहा—"मुझे ऐसा भास होता है कि तुम ब्रह्मज्ञानी होकर आए हो। किसने तुम्हें यह ज्ञान सिखाया ?"

सत्यकाम बोला—"भगवन् ! मुझे यह ज्ञान दूसरों ने सिखाया है। पर मैं इसे पूर्ण रूप से केवल आप ही से सीख सकता हूँ। मैंने आचार्यों से सुना है कि गुरु का सिखाया हुआ ज्ञान ही सबसे उत्तम होता है।"

इसके बाद गुरु गौतम ने उसे ब्रह्मविद्या के संबंध में परिपूर्ण उपदेश दिया—कुछ भी शेष नहीं छोड़ा। जिसका फल यह हुआ कि दरिद्रा याचिका जबाला का पुत्र सत्यकाम श्रेष्ठ ब्रह्मवेत्ता बन गया।

इन्द्रियों में श्रेष्ठ कौन है ?

एक बार इन्द्रियों में इस बात पर विवाद उत्पन्न हो गया कि उन सबमें श्रेष्ठ कौन है। जब आपस के तर्क-वितर्क से वे किसी निश्चय पर न पहुँच सके, तो अन्त में वे सब प्राणियों के पिता प्रजापति के पास निर्णय के लिये पहुँचे। प्रजापति से उन्होंने पूछा—"पिता, हममें सबसे बड़ा कौन है?"

प्रजापति ने उत्तर दिया—"तुममें से जिसके शरीर से निकल जाने पर शरीर निकम्मा हो जाय उसी को श्रेष्ठ समझा जाना चाहिये।"

इन्द्रियों ने इस बात की सचाई की परीक्षा लेनी चाही। सबसे पहले वाणी शरीर से बाहर निकल गई। एक वर्ष तक बाहर रहकर अन्त में जब वह लौटकर आई तो उसने दूसरी इन्द्रियों से पूछा—"मेरे न रहने से तुम सबका क्या हाल रहा?"

उन्होंने उत्तर दिया—"ठीक जिस तरह एक गूँगा बिना कुछ बोले हुए प्राण की शक्ति से साँस लेता रहता

है, आँखों से देखता है, कानों से सुनता है, और मन से सोचता है।" यह सुनकर वाणी शरीर के भीतर चली गई।

इसके बाद दृष्टि शरीर से बाहर निकल गई। एक वर्ष तक वह भी अलग रही। वर्ष समाप्त होने पर जब लौटकर आई तो उसने दूसरी इन्द्रियों से पूछा—"मेरी अनुपस्थिति में तुम लोगों पर कैसी बीती?"

उन्होंने उत्तर दिया—"ठीक जिस प्रकार अन्धा बिना कुछ देखे हुए प्राण की शक्ति से साँस लेता है, वाणी से बोलता है, कानों से सुनता है और मन से सोचता है।" यह सुनकर दृष्टि ने फिर से शरीर में प्रवेश कर लिया।

उसके बाद कर्णेन्द्रिय एक वर्ष के लिये शरीर से बाहर रही। जब वर्ष समाप्त होने पर वह लौटकर आई तो उसने दूसरी इन्द्रियों से पूछा—"मेरे न रहने से तुम सबकी क्या दशा रही?"

उन्होंने उत्तर दिया—"ठीक जिस प्रकार कोई बहरा कुछ न सुनता हुआ प्राण की शक्ति से साँस लेता है, वाक् इन्द्रिय से बोलता है, आँखों से देखता है और मन से सोचता है।" यह सुनकर कर्णेन्द्रिय फिर से शरीर में अपने स्थान पर चली गई।

उसके बाद मन की बारी आई। वह भी एक वर्ष तक शरीर से बाहर रहा। जब लौटकर आया तो उसने दूसरी इन्द्रियों से पूछा—"जब मैं तुम्हारे साथ नहीं था तो तुम सबका क्या हाल रहा?"

उन्होंने उत्तर दिया—"ठीक जैसे एक बालक विचार-शक्ति से रहित होकर प्राण के बल से साँस लेता है,

वाक्-इन्द्रिय से बोलता है, आँखों से देखता है और कानों से सुनता है।" यह सुनकर मन फिर से शरीर के भीतर चला गया।

अंत में प्राण शरीर से बाहर निकलने लगा। जिस प्रकार चाबुक की चोट खाया हुआ वेगवान् घोड़ा दौड़ने के लिए उत्सुक होकर उन सब खूँटों को भी उखाड़ डालता है जिनसे उसके पाँव बँधे होते हैं। उसी प्रकार उस मूल प्राण के अन्य सब प्राणों (इन्द्रियों) को भी विचलित करके अपने स्थानों से च्युत कर दिया। तब दूसरे सब प्राण (इन्द्रियाँ) उसके पास आकर गिड़-गिड़ाते हुए बोले—"भगवन्! तुम अपने स्थान से न हटो। तुम हम सबमें श्रेष्ठ हो।"

इसके बाद वाणी ने उससे कहा—"सब-कुछ कह लेने की जो विशेषता मुझमें है वह तुम्हीं से प्राप्त है।" तब दृष्टि ने कहा—"स्थिरता का जो गुण मुझमें है वह तुम्हारा ही गुण है।" कान ने कहा—"जो संपदा मुझे प्राप्त है तुम वही संपदा हो।" मन ने कहा—"सब कुछ अपने में ग्रहण कर लेने की जो मेरी शक्ति है वह शक्ति तुम्हीं हो।"

निश्चय ही न वाणी अपना कार्य केवल अपनी निजी विशेषता से पूरा कर पाती है, न आँख, न कान, न मन। प्राण ही उन सब के कामों को करता है। प्राण ही से सब कुछ होता है।

गाड़ीवान रैक्व का प्रताप

किसी समय जानश्रुति नाम का राजा रहता था। वह बड़ा दानी और धार्मिक था। उसने अपने राज्य में चारों ओर धर्मशालाएँ बनवा रखी थीं, ताकि बाहर के लोग उसके राज्य में आकर वहाँ आराम से रहें। उन धर्म-शालाओं में उसने सबके भोजन का भी अच्छा प्रबंध कर रखा था।

एक रात में उसके भवन के ऊपर से होकर कुछ हंस उड़े चले जा रहे थे। उन हंसों में जो सबसे आगे था उसने सबसे पीछेवाले हंस से कहा—"हे भल्लाक्ष! देख, इस जानश्रुति राजा का प्रताप चारों ओर द्युलोक के समान फैला हुआ है। उसके समीप तू मत जाना, नहीं तो वह तुझे अपने तेज से जलाकर भस्म कर डालेगा।"

दूसरा हंस बोला—"अरे, तू यह मूर्खों की-सी कैसी बातें करता है! एक साधारण व्यक्ति को ऐसा समझता है, जैसे वह गाड़ी हाँकनेवाले रैक्व ऋषि के समान हो।"

पहले हंस ने पूछा—"यह रैक्व कौन है?"

दूसरे ने कहा—"यह रैक्व ऐसा प्रतापी है कि लोग

जो श्रेष्ठ कर्म करते हैं उन सबका फल उसे अपने-आप मिल जाता है। जानश्रुति को जितना ज्ञान है रैक्व को भी उतना ही (बल्कि अधिक) है। वह देखने में साधारण लगते हुए भी बहुत बड़ा तपस्वी है।"

जानश्रुति ने जब हंसों को इस तरह आपस में बातें करते हुए सुना तो उसने अपने सारथि को रैक्व का पता लगाने और उसके संबंध में ठीक-ठीक बातें मालूम करने का आदेश दिया। सारथि ने रैक्व का पता लगाने की बहुत चेष्टा की, पर असफल हुआ।

उसने आकर राजा को सूचित किया कि रैक्व का कहीं पता नहीं लगता। राजा ने कहा—"रैक्व को वहाँ ढूँढ़ो जहाँ ब्रह्मज्ञानी रहते हों।"

सारथि फिर खोज में निकला। एक स्थान में उसने देखा कि एक साधारण-सा व्यक्ति एक गाड़ी के नीचे छाँह में बैठा हुआ अपने शरीर के एक स्थान का दाद खुजला रहा है। वह उसके पास गया और हाथ जोड़ता हुआ बोला—"आपही क्या गाड़ीवाले रैक्व ऋषि हैं?" उस व्यक्ति ने उत्तर दिया—"हाँ, मैं वही हूँ।" सारथि ने यह जानकर कि उसने रैक्व का पता लगा लिया है, राजा को इस बात की सूचना दी।

राजा जानश्रुति छः सौ गायें, रत्नों का एक मूल्यवान हार और एक सुंदर रथ लेकर रैक्व के पास पहुँचा और उन सब चीज़ों को उसे भेंट-स्वरूप प्रदान करके बोला—"जिस देवता की उपासना आप करते हैं, उसके विशेषत्व से मुझे परिचित कराइए।"

रैक्व को राजा पर अत्यंत क्रोध आया। वह किसी

प्रलोभन में फँसना नहीं चाहता था। उसने जानश्रुति से कहा—"हे शूद्र ! मुझे इन हार और गौओं की कोई आवश्यकता नहीं है। इन्हें तुम अपने ही पास रखो।"

जानश्रुति खिन्न होकर लौट चला। उसने सोचा कि रैक्व उस दान को कम समझता है, और इसी कारण "शूद्र !" कहकर डाँट बताता है। उसने फिर एक बार रैक्व के पास जाने का विचार किया। इस बार वह एक हज़ार गाएँ, हार और एक सुन्दर रथ लेकर रैक्व के पास पहुँचा। उसके बाद उसने (राजा ने) कहा—"भगवन ! इन सब चीज़ों के अतिरिक्त मैं तुम्हें वह गाँव भी दान में देता हूँ जिसमें आप इस समय विराजमान हैं, मैं आपसे ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा रखता हूँ।"

रैक्व ने राजा की करुण प्रार्थना सुनकर उसे ज्ञानोपदेश देना स्वीकार कर लिया। राजा जानश्रुति उस अत्यंत साधारण व्यक्तित्व वाले महापुरुष के मुख से ब्रह्मज्ञान सुनकर बहुत सुखी हुआ और वह बहुत बड़ा पण्डित बन गया।

देवों और असुरों का द्वन्द्व

देवों और असुरों के बीच एक भयंकर द्वन्द्व मच गया। दोनों प्रजापति की संतानें थीं, किंतु दोनों की प्रकृति में मूलगत विषमता थी। देवगण विद्या की उपासना करना चाहते थे और असुरगण भौतिक शक्ति का विस्तार करना चाहते थे। इस प्रकार दोनों की प्रवृत्तियाँ एक-दूसरे की विरोधी थीं। फल यह हुआ कि दोनों एक दूसरे के विनाश के प्रयत्न में जुट गए।

देवताओं ने 'उद्‌गीथ' (ओङ्कार) की उपासना आरंभ कर दी। उन्होंने सोचा कि यदि विद्या के मूल बीज-रूप ओङ्कार-तत्त्व का मनन, चिंतन और आराधन करना आरंभ कर दें तो निश्चय ही उससे तमोगुण-युक्त असुरों की सारी आसुरी शक्ति नष्ट हो जाएगी।

उन्होंने पहले श्वास के रूप में ओङ्कार की उपासना की। श्वास में ओङ्कार की प्रतिष्ठा करके वे दिन-रात उसे भजने लगे। असुरों को जब यह ज्ञात हुआ तो उन्होंने श्वास-वायु को पाप से कलुषित करना आरंभ कर दिया। फल यह हुआ कि जिस श्वास-वायु की घ्राण-शक्ति द्वारा

देवगण केवल दिव्य सुगंधियों को सूँघा करते थे उससे वे दुर्गन्ध से भी परिचित हो उठे। तभी से विश्व के समस्त मानव-प्राणी सुगंधि और दुर्गंध दोनों का अनुभव करते हैं। दुर्गंध की अनुभूति ने श्वास-वायु को ओङ्कार की प्रतिष्ठा के योग्य सिद्ध कर दिया।

इसके बाद देवों ने वाणी को ओङ्कार के रूप में मानकर उसकी उपासना आरंभ कर दी। असुरों ने उसे भी पाप से कलुषित कर दिया। यही कारण है कि वाणी सत्य और असत्य दोनों प्रकार के वाक्यों को बोला करती है। सत्य के साथ असत्य को भी अपनाने के कारण वाणी ओङ्कार की स्थापना के उपयुक्त नहीं रही।

तब देवों ने चक्षु को ओङ्कार-रूप में मानकर उसकी उपासना आरंभ कर दी। पर असुरों ने उसे भी निष्कलंक नहीं रहने दिया। उसे भी पाप से कलुषित कर दिया। यही कारण है कि दृष्टि सुन्दर और असुन्दर, दर्शनीय और अदर्शनीय दोनों प्रकार की वस्तुओं को देखा करती है।

जब देवताओं ने देखा कि दृष्टि भी ओङ्कार-रूप में उपासना के योग्य नहीं रही, तो उन्होंने श्रवणेन्द्रिय को अपनाया और उद्गीथ के रूप में उसी की आराधना करने लगे। किंतु असुरों ने उसे भी नहीं छोड़ा और उसे भी पाप से कलुषित कर दिया। फल यह हुआ कि वह ऐसी बातों को भी सुनने लगा जो श्रवण के योग्य नहीं हैं।

उसके बाद देवों ने मन को ओङ्कार के रूप में भजना आरंभ किया। असुरों ने उसे भी पाप-वासना से कलुषित कर दिया। फल यह हुआ कि मन अच्छी और बुरी दोनों प्रकार की कामनाएँ करने लगा।

अंत में देवताओं ने प्राण में ओङ्कार की प्रतिष्ठा की और उसकी उपासना करने लगे। असुर उसे भी पाप से कलुषित करने के लिए आ पहुँचे। पर इस बार वे स्वयं इस प्रकार नष्ट हो गये, जैसे किसी कठिन और अभेद्य चट्टान पर ढेला पटकने से वह चकनाचूर हो जाता है। तब देवताओं ने जाना कि प्राण निष्कलुष और पवित्र है। उस पर किसी पाप का प्रभाव नहीं पड़ सकता।

इसी प्रकार वह व्यक्ति भी अभेद्य पाषाण पर पटके गये मिट्टी के ढेले की तरह विनष्ट हो जाता है जो प्राण-तत्त्व के जाननेवाले को पाप से कलुषित करना चाहता है।

यह मूल प्राणतत्त्व ऐसा निर्विकार है कि उसके द्वारा मनुष्य न सुगन्धि को सूँघता है न दुर्गन्ध को। वह जो भक्षण या पान करता है उसका स्वयं उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता, बल्कि दूसरी प्राणशक्तियों को बल मिलता है। सब इन्द्रियाँ प्रकृति से ही स्वार्थरत होती हैं, क्योंकि वे अपनी ही विशेष-विशेष प्रवृत्तियों को चरितार्थ करने के लिए उत्सुक रहती हैं। पर प्राण-तत्त्व स्वयं निर्लिप्त रहकर सबके हित के लिए निरंतर व्यस्त रहता है। अन्त समय आने पर प्राण न भोजन करता है न पान। फल यह होता है कि दूसरी प्राण-शक्तियों (इन्द्रियों) का सहारा जाता रहता है। वे शरीर को छोड़कर चली जाती हैं और (मृत) मनुष्य मुँह बाये ताकता रह जाता है।

अङ्गिरा ऋषि ने उस अमर और निर्विकार प्राण-तत्त्व

में ओङ्कार की प्रतिष्ठा करके उसकी उपासना की थी, इसलिए वह आंगिरस के नाम से प्रसिद्ध है।

जो इस अविनाशी उद्गीथ की उपासना इस रूप में करता है वह कामनाओं का स्वामी बन जाता है।

स्वर्ग, मर्त्य और आकाश

तीन व्यक्ति—शिलक शालावत्य, चैकितायन दाल्भ्य और प्रवाहण जैवलि—उदुगीथ (ओङ्कार-सम्बन्धी-मन्त्र विशेष) के ज्ञान में प्रवीण थे। उन्होंने एक दूसरे से कहा "हम उदुगीथ में कुशल हैं और इस ज्ञान का परिचय देने के लिए तैयार हैं।"

यह कहकर वे तीनों बैठ गए। प्रवाहण जैवलि ने कहा—"आप दोनों श्रद्धेय ब्राह्मण हैं, और मैं क्षत्रिय हूँ, इसलिए पहले आप लोग उदुगीथ की चर्चा आरंभ करें। मैं सुनने के लिए उत्सुक हूँ।"

शिलक शालावत्य (शलावत का पुत्र) ने चैकितायन दाल्भ्य (दल्भ का पुत्र) से कहा—"यदि आप आज्ञा दें तो मैं आपसे कुछ प्रश्न करूँ।"

चैकितायन ने कहा—"आप प्रसन्नता से प्रश्न कीजिए।"

शिलक ने पूछा—"साम की जाति (आधार या आश्रय) क्या है ?"

चैकितायन ने उत्तर दिया—"स्वर।"

"स्वर की गति क्या है?"

"प्राण।"

"प्राण का आधार क्या है?"

"अन्न।"

"अन्न का आधार क्या है?"

"जल।"

"जल का आधार क्या है?"

"वह लोक—स्वर्ग।"

"और उस लोक का आधार क्या है?"

चैकितायन ने कहा—"हमें स्वर्गलोक में आगे नहीं बढ़ना चाहिए, क्योंकि साम का संस्थापन उसी स्वर्ग पर हुआ है। साम की उपासना स्वर्ग ही के रूप में की जाती है।"

जब चैकितायन ने अपनी बात को यहीं पर समाप्त कर देना चाहा और कहा कि इसके आगे इस विषय के तर्क को नहीं बढ़ाया जा सकता, तो शिलक बोला—"हे दाल्भ्य, आपका साम अप्रतिष्ठित जान पड़ता है। क्योंकि यदि सचमुच साम इतना अधिक महिमा-युक्त होता जितना कि आप उसे बताते हैं तो उसका ज्ञाता बड़ा शक्तिशाली होता, और यदि वह किसी से कहता—'तेरा सिर धड़ से अलग हो जाए', तो निश्चय ही उसका सिर धड़ से अलग हो जाता। आपकी बात का आशय यह है कि साम के सम्बन्ध में तर्क को उस सीमा से आगे नहीं बढ़ाया जा सकता, जहाँ तक आपने उसका वर्णन किया है। पर मैं ऐसा नहीं मानता।"

चैकितायन ने जब यह सुना तो उसने कहा—"मुझे बड़ी प्रसन्नता होगी यदि आप इसके आगे का रहस्य मुझे समझावें।

"मैं अवश्य समझाऊँगा। प्रश्न कीजिए।"

"उस लोक का आश्रय आप क्या बताते हैं ?"

"यह लोक—पृथ्वी।"

"और इस लोक का—पृथ्वी का—आश्रय-स्थल क्या है ?"

शिलक ने उत्तर दिया—"हमें इस लोक से आगे नहीं बढ़ना चाहिए, क्योंकि इसी पर साम प्रतिष्ठित है, और इसीलिए उसे 'प्रतिष्ठा' कहकर उनकी स्तुति की जाती है। पृथ्वी में जो यज्ञ, दान, हवन आदि क्रिया-कलाप होते रहते हैं उनसे स्वर्गलोक का निर्वाह होता है। इसीलिए श्रुति ने कहा है—'मनुष्य यज्ञ में जो आहुति देते हैं उससे देवताओं की जीविका चलती है।' इसके अतिरिक्त पृथ्वी समस्त भूतों (प्राणियों) का आश्रय-स्थल है, इसलिए वह साम का भी आश्रय-स्थल है।"

तब प्रवाहण बोला—"हे शिलक शालावत्य, आपने जिस साम का वर्णन किया है वह सीमित और सान्त है। साम को यदि आप पूर्ण रूप से जानते तो उसकी शक्ति आपके आगे प्रमाणित हो जाती। साम का ज्ञाता यदि किसी से कहे—'तेरा सिर धड़ से अलग हो जाए', तो निश्चय ही उसका सिर धड़ से अलग हो जाएगा।"

शिलक ने कहा—"तब आप ही मुझे साम का यथार्थ तत्त्व समझाइए, और मेरे प्रश्नों का उत्तर दीजिए।"

"अच्छी बात है, प्रश्न कीजिए।"

"इस लोक—पृथ्वी—का आश्रय क्या है ?"

"आकाश। समस्त लोक और समस्त प्राणी आकाश से उत्पन्न होते हैं और आकाश ही में विलीन होते हैं। सबसे ज्येष्ठ (सबसे पहले उत्पन्न होनेवाला) है और वही सबसे श्रेष्ठ है। आकाश ही परब्रह्म-स्वरूप है।"

उशस्ति चाक्रायण

उशस्ति चाक्रायण अपनी सती-साध्वी पत्नी को साथ लेकर, अपने जन्मस्थान कुरु को त्यागकर, इभ्य-ग्राम में जाकर रहने लगा था। इस ग्राम में वह अपनी जीविका का कोई प्रबंध नहीं कर पाया और बड़े कष्ट से रहने लगा।

इभ्यग्राम में अधिकतर फीलवान (हाथी के चालक) रहा करते थे। एक बार उशस्ति भूख से जब बहुत व्याकुल हो उठा तो उसने एक हस्ति-चालक से भोजन के लिए कुछ माँगा। वह फीलवान उस समय कुल्माषों (एक प्रकार की निकृष्ट फलियों) को खा रहा था। उसने उशस्ति से कहा—"मेरे पास इन फलियों के सिवा और कुछ नहीं है।"

उशस्ति ने कहा—"मुझे भी कुछ फलियाँ दो।"

फीलवान ने उसे कुछ फलियाँ दे दीं। उनके साथ उसने पीने के लिये अपने पीने के बाद बचा हुआ पानी भी दिया।

उशस्ति ने कहा—"यह जूठा पानी मैं नहीं पीऊँगा।"

फीलवान बोला—"क्या ये फलियाँ जूठी नहीं हैं ?"

उशस्ति ने उत्तर दिया—"वे जूठी अवश्य हैं, पर उन्हें खाये बिना मैं जीवित नहीं रह सकता। किंतु पानी यदि मैं अभी कुछ समय तक के लिए न पीऊँ तो मरूँगा नहीं।"

फलियों में से आधी उशस्ति ने खाई और आधी वह अपनी पत्नी के लिए ले गया। उसकी पत्नी पहले ही कहीं से माँग कर कुछ फलियाँ खा चुकी थी; इसलिए उसने अपने पति की लायी हुई फलियों को बचाकर रख दिया।

दूसरे दिन जब उशस्ति सोकर उठा, तो अपनी पत्नी से बोला—"यदि इस समय मैं थोड़ा-सा खाना पा जाता, तो मुझमें कुछ बल आ जाता, और मैं कुछ धन कमा सकता। यहाँ से कुछ दूर एक राजा यज्ञ करने जा रहा है, वह निश्चय ही मुझे याजक नियुक्त करता, और सब कर्मकाण्ड मुझी से करवाता।"

उसकी पत्नी उन फलियों को ले आई, जिन्हें उसने बचाकर रख छोड़ा था, और बोली—"यह लो। इन फलियों को खाओ और खाकर यज्ञ में चले जाओ।"

उशस्ति ने उन्हें खाकर यज्ञ के लिए प्रस्थान किया। यज्ञस्थल में पहुँचकर वह एक आसन पर बैठ गया और स्रोता (देवता की स्तुति करनेवाले) लोगों को सम्बोधन करके बोला—"हे स्रोतागण ! आप लोग समस्त स्तुतियों के स्वामी के वास्तविक स्वरूप को बिना जाने ही यदि स्तोत्रों को गाएँगे, तो आप लोगों के सिर धड़ से अलग कर दिए जाएँगे।"

उसके बाद उद्गीथ (ओङ्कार-सम्बन्धी मंत्र) के गायकों को लक्ष्य करके उसने कहा—"हे उद्गातागण ! यदि आप लोग उद्गीथ के देवता का वास्तविक स्वरूप जाने बिना ही उसकी स्तुति करेंगे, तो आप लोगों के भी सिर धड़ से अलग कर दिये जाएँगे।"

उसके बाद उसने प्रतिहार-सम्बन्धी मंत्रों के गायकों से कहा—"यदि आप लोग समस्त प्रतिहारों के देवता का वास्तविक स्वरूप जाने बिना ही उसकी स्तुति करेंगे तो आप लोगों के भी सिर धड़ से अलग कर दिए जाएँगे।"

उशस्ति ने जब इस तरह की बातें कहीं, तो उपस्थित मण्डली के आगे यह स्पष्ट हो गया कि वह नया आया हुआ व्यक्ति निश्चय ही बहुत बड़ा पंडित और ज्ञानी है।

यज्ञ करनेवाले राजा ने उशस्ति के प्रति हाथ जोड़ते हुए कहा—"भगवन्! मैं आपका परिचय जानना चाहता हूँ।"

उसने उत्तर दिया—"मैं चक्र का पुत्र उशस्ति हूँ।"

राजा ने कहा—"भगवन्! मैंने सर्वत्र आपकी खोज की, पर कहीं आपका पता न लगा। अंत में लाचार होकर मुझे दूसरों को यज्ञ के लिए नियुक्त करना पड़ा। क्या अब आप मेरे यज्ञ के समस्त कर्मकांडों को समापन करने की कृपा करेंगे?"

उशस्ति बोला—"अच्छी बात है। मेरे आदेशानुसार समस्त स्तोतागण स्तुति गाएँ। जो धन आप दूसरों को देनेवाले थे उसे मुझे ही प्रदान करें।"

यजमान (यज्ञ करनेवाले) राजा ने कहा—"मुझे स्वीकार है।"

उसके बाद स्रोतागण उशस्ति के पास आकर बोले—"आपने अभी हम लोगों से कहा था—'आप लोग यदि समस्त स्तुतियों के स्वामी के वास्तविक स्वरूप को जाने विना ही स्तोत्रों को गाएँगे तो आप लोगों के सिर धड़ से अलग कर दिए जाएँगे।' क्या आप यह बताने की कृपा करेंगे कि स्तुतियों का वह स्वामी कौन है?"

उशस्ति ने कहा—"वह प्राण है। सृष्टि के समस्त प्राणी प्रलय-काल में उसी प्राण में विलीन होते हैं, और फिर उसी प्राण से उनका क्रमिक विकास होता है। यह प्राण ही वह देवता है जो समस्त स्तुतियों का स्वामी है। यदि आप लोगों ने विना उसकी वास्तविकता को जाने उसकी स्तुति की होती तो आप लोगों के सिर धड़ से अलग कर दिए जाते।

उसके बाद उद्गातागण (उद्गीथ के गायक) उसके पास पहुँचे और बोले—"भगवन्! आपने हमसे कहा था—'यदि आप लोग उद्गीथ के देवता का वास्तविक स्वरूप जाने विना ही उसकी स्तुति करेंगे, तो आप लोगों के सिर भी धड़ से अलग कर दिये जावेंगे।' क्या हम पूछ सकते हैं कि वह देवता कौन है?"

उशस्ति ने कहा—"वह आदित्य (सूर्य) है। समस्त प्राणी उसकी महान् जीवन-दायिनी शक्ति से परिचित होकर उसका गुण गाते हैं। उद्गीथ का देवता वही है। यदि आप लोगों ने विना उसे जाने ही उसकी स्तुति की होती, तो निश्चय ही आप लोगों के सिर धड़ से अलग हो गए होते।"

उसके बाद प्रतिहर्तागण उसके पास आए और बोले—

"भगवन् ! आपने कहा था—'यदि आप लोग प्रतिहार के देवता का वास्तविक स्वरूप जाने बिना ही उसकी स्तुति करेंगे तो आप लोगों के सिर भी धड़ से अलग कर दिये जावेंगे। क्या आप यह बताने की कृपा करेंगे कि वह देवता कौन है ?"

"वह देवता अन्न है"—उशस्ति ने उत्तर दिया—"समस्त प्राणी अन्न द्वारा ही जीवन धारण किये हुए हैं। प्रतिहारों का स्वामी यही है। यदि आप लोगों ने बिना उसे जाने ही उसकी स्तुति की होती, तो निश्चय ही आप लोगों के सिर धड़ से अलग कर दिये जाते।"

उसके शिष्य—उपकोसल—को अपने गुरु की इस उदासीनता से बड़ा धक्का पहुँचा। उसने खाना-पीना छोड़ दिया। उसे अनशन किये हुए जब कुछ दिन बीत गए तो उसके गुरु की पत्नी ने उससे कहा—"ब्रह्मचारी, खाना खा लो। क्यों तुम अन्न त्यागे बैठे हो?"

ब्रह्मचारी ने उत्तर दिया—"मेरे मन में बहुत-सी कामनाएँ हैं। मैं मानसिक खिन्नता से ग्रस्त हूँ। मैं खाना नहीं खाऊँगा।"

गृह की अग्नियों ने जब उपकोसल को उस अवस्था में देखा, तो उन्होंने आपस में कहा— "इस तप्त (थकित) ब्रह्मचारी ने बड़ी लगन से इन लोगों की सेवा की है, इसलिए वह जो कुछ जानना चाहता है हम उसे समझायेंगे।"

आपस में ऐसा कहकर अग्नियाँ उपकोसल से कहने लगीं—"प्राण ब्रह्म है, 'क' (आनन्द) ब्रह्म है और 'ख' (आत्मा-रूपी आकाश) ब्रह्म है। जो 'क' है वही 'ख' है, और जो कुछ 'ख' है वही 'क' है। अर्थात् ब्रह्म को अनुभव करनेवाला जो आनन्द इन्द्रियों के परे है, वह आत्मारूपी आकाश में आश्रय पाता है और आत्मारूपी आकाश विशुद्ध आनन्द के आधार पर स्थित है।"

उसके बाद गार्हपत्य (घर में जलाई जानेवाली) अग्नि ने उपकोसल को इस प्रकार ज्ञान-तत्त्व समझाया— "पृथिवी, अग्नि, अन्न, आदित्य (सूर्य)—इन चार तत्त्वों से मेरी उत्पत्ति हुई है। इसलिए सूर्य में जो आत्म-रूप दिखाई देता है वह मैं ही हूँ।

"जो उस आत्म-रूप पुरुष को इस रूप में जानकर

उसकी उपासना करता है: वह समस्त पापकर्मों को नष्ट करने में सफल होता है, वह आत्म-प्रकाश-रूप अग्नि-लोक को प्राप्त होता है, वह पूर्ण आयु का उपभोग करता है, उसके जीवन में महिमा छायी रहती है, और उसके वंश का कभी विनाश नहीं होता। हम उस व्यक्ति का साथ इस लोक में और परलोक में भी देते रहते हैं।"

इसके बाद अन्नाहार्यपचन (भोजन पचानेवाली) अग्नि ने इस प्रकार उपदेश दिया—"जल, दिशाएँ, नक्षत्र और चंद्रमा, इन तत्त्वों से मेरा शरीर बना हुआ है। इसलिये चंद्रमा में जो स्वरूप दिखाई देता है वह मैं ही हूँ।

"जो मेरे इस स्वरूप की वास्तविकता को समझकर उसकी उपासना करता है वह समस्त पापकर्मों को नष्ट करने में सफल होता है, वह पूर्ण आयु का उपभोग करता है, उसके जीवन में महिमा छायी रहती है, और उसके वंश का विनाश नहीं होता। जो मेरे उस स्वरूप की उपासना करता है हम इस लोक में और परलोक में भी उस व्यक्ति का साथ देते रहते हैं।"

उसके बाद आहवनीय अग्नि ने कहा—"प्राण, आकाश, स्वर्गलोक और बिजली—इन चारों के तत्त्वों से मेरा शरीर निर्मित हुआ है। इसलिये बिजली में जो स्वरूप दिखाई देता है वह मैं ही हूँ।

"जो इस स्वरूप की उपासना करता है उसके सब पापकर्म नष्ट हो जाते हैं: वह अग्निलोक को प्राप्त होता है, पूर्ण आयु का उपभोग करता है, उसके जीवन में महिमा छायी रहती है और उसके वंश का विनाश नहीं

होता। हम इस लोक में और परलोक में भी उस व्यक्ति का साथ देते रहते हैं।"

इसके बाद तीनों अग्नियों ने मिलकर उससे कहा—"वत्स उपकोसल! हमने अपने संबंध की विद्या और आत्मा से संबंध रखनेवाली विद्या से तुम्हें परिचित करा दिया है, अब तुम्हारे आचार्य (गुरु) तुम्हें बतायेंगे कि इन दोनों विद्याओं की गति कहाँ तक है।"

कुछ समय बाद जब आचार्य यात्रा से लौटकर आये तो उन्होंने अपने शिष्य को पुकारा—"उपकोसल।"

उपकोसल ने कहा—"भगवन्!"

"सौम्य! तुम्हारे मुख के भाव से जान पड़ता है कि तुमने ब्रह्मविद्या सीख ली है। किसने तुम्हें सिखाया?"

उपकोसल ने तनिक उलाहने के स्वर में कहा—"जब स्वयं आचार्य ही मुझे सिखाना नहीं चाहते, तो दूसरा कौन मुझे सिखाएगा!"

पर बाद में उसने अग्नियों की ओर संकेत करके कहा—"इन अग्नियों का रूप कुछ ही समय पहले दूसरा हो गया था।"

आचार्य ने पूछा—"क्या अग्नियाँ तुमसे बोली थीं?"

"हाँ, भगवन्!"

आचार्य ने कहा—"वत्स! अग्नियों ने तुम्हें लोकों के संबंध में ज्ञान बताया है। मैं भी तुम्हें इसी विषय की शिक्षा दूँगा। जो व्यक्ति इस विषय के ज्ञान से परिचित हो जाता है वह पाप में उसी प्रकार लिप्त नहीं होता, जिस प्रकार कमल के पत्ते से पानी लिप्त नहीं हो पाता।"

शिष्य बोला—"भगवन् ! तब आप अवश्य मुझे इस विषय का ज्ञान बतावें।"

आचार्य ने कहा—"जो (आत्म) पुरुष आँखों के भीतर वर्तमान रहता है, वह आत्मा ही है । वह अमर और भयरहित है। वह ब्रह्म है । उसके ऊपर यदि पिघलाया हुआ घी या पानी छोड़ा जाय, तो उस पर बिना चिह्न छोड़े बहकर निकल जाता है ।

"वह संयद्वाम कहा जाता है । सभी उपासना-योग्य पदार्थ उसमें लीन हो जाते हैं । जो व्यक्ति उसे जान लेता है उसमें भी सभी उपासना-योग्य पदार्थ लीन हो जाते हैं ।

"वह एक विराट् पात्र है, क्योंकि सभी महत पदार्थ उसमें लीन होते हैं ।

"वह पूर्ण ज्योतिर्मय है, क्योंकि वह सर्वत्र प्रकाशित होता है । जो व्यक्ति उसे जान लेता है वह स्वयं भी ज्योतिर्मय बन जाता है ।

"उस ज्योतिर्मय स्वरूप को जाननेवाले व्यक्ति की मृत्यु के बाद यदि उसका अंतिम संस्कार किया जाय या न किया जाय, वह अपनी ही ज्योतिर्मय आत्मा के बल से ज्योतिर्मय किरणों के लोक (अर्चि-लोक) में पहुँच जाता है । अर्चि-लोक के बाद वह दिवस-लोक में पहुँचता है ; वहाँ से उज्ज्वल यक्ष लोक में जाता है, वहाँ से उत्तरायण मे जा पहुँचता है : उसके बाद संवत्सर-लोक में जाता है ; वहाँ से सूर्य-लोक में, सूर्य-लोक से चंद्र-लोक में और चंद्र-लोक से विद्युत्-लोक में जा पहुँचता है । अंत में वह अशरीरी और अतीन्द्रिय पुरुष का रूप धारण कर लेता है ।"

"उसके बाद वह देव-पथ से होकर ब्रह्म-पथ में जा पहुँचता है और वहाँ से ब्रह्म-लोक जाकर विश्राम लेता है। जो व्यक्ति ब्रह्म-पथ में एक बार पाँव रख लेते हैं वे फिर मर्त्य-लोक में लौटकर नहीं आते।"

लोक-परलोक

एक बार श्वेतकेतु आरुणेय (आरुणि का पुत्र) पंचाल लोगों की राज-समिति में जा पहुँचा। वहाँ उससे समिति के प्रधान राजा प्रवाहण जैवलि ने प्रश्न किया—"हे कुमार! क्या तुम्हारे पिता ने तुम्हें शिक्षा दी है?"

"हाँ भगवन्! मेरे पिता ने मुझे शिक्षा दी है।"

प्रवाहण ने पूछा—"क्या तुम जानते हो कि इस लोक से उठकर मनुष्य कहाँ जाते हैं?"

"नहीं भगवन्! मैं यह नहीं जानता।"

"क्या तुम जानते हो कि इस लोक में मनुष्य फिर कैसे लौट आते हैं?"

"नहीं भगवन्! मैं यह भी नहीं जानता।"

"क्या तुम्हें ज्ञात है कि देवयान और पितृयान की सीमा कहाँ पर है?"

"नहीं भगवन्! यह मुझे ज्ञात नहीं है।"

"क्या तुम बता सकते हो कि मृत्यु के बाद मनुष्य जिस लोक में जाते हैं वह असंख्य प्राणियों के मरते

रहने पर भी क्यों नहीं भर जाता—क्यों उसमें फिर भी सबके लिये स्थान बना रहता है ?"

"नहीं भगवन् ! मैं यह नहीं बता सकता।"

"क्या तुम जानते हो कि यज्ञ में पंचम आहुति में छोड़े जानेवाले तरल द्रव्यों को 'पुरुष' क्यों कहते हैं ?"

"नहीं भगवन् ! मैं नहीं जानता।"

तब प्रवाहण जैबलि ने उससे कहा—"जब तुम इन प्रश्नों का उत्तर नहीं दे सकते हो, तब तुमने यह क्यों कहा कि तुम्हारे पिता ने तुम्हें शिक्षा दी है ?"

"उस कुमार (श्वेतकेतु) ने जब यह सुना, तो वह खिन्न मन होकर वहाँ से चला गया। वह लौटकर अपने पिता के पास पहुँचा और बोला—"पिताजी, आपने मुझे पूर्ण रूप से शिक्षित बनाए बिना ही यह कह दिया कि आप शिक्षा दे चुके हैं। मुझसे राज-समिति के प्रधान ने पाँच प्रश्न किए, और मैं उनमें से एक का भी उत्तर न दे सका।"

उसके पिता ने पूछा कि वे प्रश्न क्या थे, श्वेतकेतु ने पाँचों प्रश्नों को उसके आगे दुहराया।

प्रश्नों को सुनकर श्वेतकेतु के पिता ने कहा—"वत्स ! मैं स्वयं इन पाँचों प्रश्नों में से एक का भी उत्तर नहीं जानता। यदि मैं जानता होता, तो तुम्हें क्यों न बताता ?"

यह कहकर वह (श्वेतकेतु का पिता) स्वयं राजा प्रवाहण जैबलि के पास जा पहुँचा। राजा ने सब प्रकार से उसकी आवभगत की। दूसरे दिन वह पंचाल-समिति में उपस्थित हुआ। विद्वानों की इस समिति में

राजा प्रवाहण ने उससे कहा—"हे गौतम! (गौतम गोत्री) इस संसार में तुम सर्वश्रेष्ठ वित्त (धन-संपत्ति) जो भी समझते हो उसे माँगो।"

गौतम ने कहा—"हे राजन्! सांसारिक वित्त आप अपने पास ही रहने दीजिए। मैं उसके लिये आपके पास नहीं आया हूँ। आपने मेरे कुमार से जो प्रश्न किए थे उनका उत्तर आप ही से जानने की अभिलाषा से मैं आपके पास आया हूँ।"

गौतम की यह प्रार्थना सुनकर राजा को तनिक झिझक मालूम हुई। उसने अपने मन में सोचा—'जो गूढ़ ज्ञान मुझे प्राप्त हुआ है उसे इस अहंकारी ब्राह्मण को बताने में कहीं मेरी विशेषता तो नष्ट नहीं हो जाएगी?' कुछ क्षण तक सोचने के बाद उसने कहा—"अच्छी बात है, तुम अभी कुछ समय तक मेरे पास रहो। तुमने जब पूछा है, तो तुम्हें बताना ही होगा। इस ज्ञान से आज तक कभी कोई ब्राह्मण परिचित नहीं रहा। इस विषय की विशेषज्ञता केवल क्षत्रियों को ही प्राप्त है। इसलिये मैं पहली बार एक ब्राह्मण को इस गूढ़ ज्ञान से परिचित कराने जा रहा हूँ।

[२]

गौतम जब कुछ समय तक राजा के पास रहा, तो प्रवाहण जैबलि ने एक दिन उसे उस गूढ़ ज्ञान से परिचित कराने के विचार से कहना आरंभ किया—"हे गौतम! मनुष्य मृत्यु के बाद जिस लोक में पहुँचता है, वह अग्नि है। सूर्य उस अग्नि का समिध (ईंधन) है, उसकी किरणें अग्नि का धुआँ है, दिन उसकी ज्वाला है,

चन्द्रमा अङ्गारा है और नक्षत्र उसकी चिनगारियाँ हैं।

"उस महाग्नि में देवगण आहुति के रूप में अपनी श्रद्धा को अर्पित करते हैं, तब सोम राजा प्रकट होता है, (देवों का रूपक यहाँ पर इन्द्रियों के लिये है, और 'सोम राजा' वह सूक्ष्म रूप है जिसे यज्ञकर्तागण मृत्यु के बाद प्राप्त करते हैं।)

"हे गौतम! पर्जन्य (वर्षा का देवता या इन्द्र) ही अग्नि है, और वायु उस अग्नि का ईंधन है, बादल उसका धुआँ है, बिजली उसकी ज्वाला है, वज्र उसका अंगार है, और बादलों का घहरना उसकी चिनगारियाँ हैं।"

"उस अग्नि में देवगण सोम राजा की आहुति देते हैं जिससे वर्षा उत्पन्न होती है।

"हे गौतम! पृथिवी ही अग्नि है, संवत्सर (वर्ष) उसके ईंधन हैं, आकाश उसका धुआँ है, रात उसकी ज्वाला है, दिशाएँ उसके अंगारे हैं, और बीच की दिशाएँ उसकी चिनगारियाँ हैं।"

"उस अग्नि में देवगण वर्षा की आहुति देते हैं, जिससे अन्न उत्पन्न होता है।"

"हे गौतम! मनुष्य ही वह अग्नि है, वाणी उसका ईंधन है, साँस उसका धुआँ है, जीभ उसकी ज्वाला है, आँखें अंगारे हैं और कान चिनगारियाँ हैं।"

"उस अग्नि में देवगण अन्न की आहुति देते हैं, जिससे जनन-शक्ति उत्पन्न होती है।"

"हे गौतम! स्त्री ही अग्नि है। उस अग्नि में देवगण जनन-शक्ति का हवन करते हैं। उससे गर्भ की उत्पत्ति

होती है। यही इस प्रश्न का उत्तर है कि पाँचवें हवन का जल पुरुष क्यों कहलाता है।"

"प्रायः दस मास तक गर्भ में रहने के बाद प्राणी जन्म लेता है। जन्म लेने के बाद वह अपने पूर्व जन्म के कर्मों से निर्धारित आयु तक जीवित रहता है। उसकी मृत्यु के बाद उसके पुत्र उसके मृत शरीर को अग्नि को अर्पित कर देते हैं, जहाँ से उसने जन्म लिया था (उसका जन्म अग्नि में पूर्वोक्त आहुतियाँ देने के बाद ही हुआ था)।

"हे गौतम! जो पुरुष की उत्पत्ति के इस क्रम को जानते हैं और जो अरण्य में श्रद्धा और तपस्या के साथ ब्रह्म की उपासना करते हैं, वे मृत्यु के बाद ज्योतिर्मय लोक (अर्चि लोक) में पहुँचते हैं, वहाँ से दिवस-लोक में जाते हैं, वहाँ से शुक्ल पक्ष (जिस पक्ष में चन्द्रमा का उजाला बराबर बना रहता है) के लोक में जाते हैं। वहाँ से उत्तरायण में पहुँचते हैं।

"उत्तरायण से संवत्सर-लोक में जाते हैं। वहाँ से आदित्य (सूर्य) लोक में, आदित्य-लोक से चंद्रलोक में, वहाँ से विद्युत्-लोक में जा पहुँचते हैं। विद्युत-लोक से एक अमानव (मनुष्यों से परे) पुरुष उन्हें ब्रह्मलोक में ले जाता है। यह पथ देवयान (देव-लोक में पहुँचने का मार्ग) कहलाता है।

जो गँवार लोग यज्ञ द्वारा, या तालाब और कुएँ खुदवाकर और धर्मशालाएँ बनाकर या इसी तरह के छोटे-मोटे दान-संबंधी कार्यों द्वारा धर्मोपासना करते हैं, वे मृत्यु के बाद धूमलोक (धुएँ से ढके हुए अँधेरे

लोक) में जाते हैं, धूमलोक से रात्रि-लोक में पहुँचते हैं, रात्रिलोक से कृष्ण पक्ष-लोक में जाते हैं, कृष्ण-पक्ष से दक्षिणायण-लोक में जाते हैं, और वहाँ से वे संवत्सर-लोक में नहीं पहुँच पाते।

"वे बीच ही में पितृलोक में पहुँच जाते हैं। पितृ-लोक से वे आकाश में जाते हैं, और वहाँ से चंद्रलोक में जा पहुँचते हैं। यह चंद्रमा ही सोम राजा है। इस सोम राजा के लोक में वे लोग देवों का अन्न बन जाते हैं, देवगण उन्हें खा जाते हैं।

"देवों के पेट में कुछ समय तक अन्न की तरह पचते हुए अपने कर्मों के अनुसार निर्धारित अवधि तक वहाँ रहते हैं। उसके बाद वहाँ से फिर आकाश में जाते हैं (अर्थात् देवताओं के पेट में पचे हुए उस अन्न के परमाणु प्राकृतिक विश्लेषण के नियम से आकाश में घुल-मिल जाते हैं।) आकाश से वे वायु में मिल जाते हैं, वायु के बाद वे धुएँ में बदल जाते हैं, और धुएँ से बादल में परिणत हो जाते हैं।

"बादलों में वे वर्षा के रूप में पृथिवी पर बरसते हैं, जिसके फलस्वरूप धान, जौ, ओषधि, वनस्पति, तिल आदि की उत्पत्ति होती है। चावल आदि अन्न खानेवाले व्यक्ति संतानोत्पादन करते हैं और एक से अनेक बन जाते हैं।

"जिस व्यक्ति का आचरण अच्छा होता है, वह शीघ्र ही किसी उत्तम वर्ण को प्राप्त होता है, और जो बुरे आच-रण करता है, वह शीघ्र ही किसी हीन जाति में जन्म लेता है—कुत्ता, सुअर या चांडाल का स्वरूप धारण करता है।

"जो लोग इन दो में से किसी पथ का अनुसरण नहीं कर पाते वे बार-बार जन्म लेने और बार-बार मरनेवाले शुद्र प्राणियों के बीच में जन्म लेते हैं। यह तृतीय स्थान है। यही कारण है कि मृत्यु के बाद प्राणी जिस लोक में जाते हैं वह भरता नहीं, इसलिये हीन आचरण से घृणा करनी चाहिए। इसीलिये कहा गया है कि—

"सोना चुरानेवाला, शराबी, गुरु के घर में अनुचित आचरण करनेवाला, ब्रह्मज्ञानी की हत्या करनेवाला, ये चार प्रकार के व्यक्ति अत्यंत पतित होते हैं, और जो लोग इनके संसर्ग में रहते हैं उनका भी पतन हो जाता है।"

वैश्वानर

उपमन्यु का लड़का प्राचीनशाल, पुलुष का पुत्र सत्ययज्ञ, भल्लव का लड़का इन्द्रद्युम्न, शर्कराक्ष का लड़का जन, अश्वतराश्व का बेटा बुडिल, ये पाँचों बहुत बड़े गृहस्थ और महान् वेदज्ञ थे। एक बार उन लोगों के बीच इस प्रश्न की चर्चा छिड़ गई कि "आत्मा कौन है और ब्रह्म क्या है?"

आपस में बहुत वाद-विवाद के बाद भी जब वे लोग किसी निश्चित परिणाम पर नहीं पहुँच सके तो अंत में उन्होंने निश्चय किया कि अरुण के पुत्र उद्दालक के पास चला जाय, और उसी से इस प्रश्न का यथार्थ उत्तर पूछा जाय, क्योंकि उसने अभी हाल में वैश्वानर की आत्मा का ज्ञान प्राप्त किया है।

ऐसा निश्चय करके वे लोग उद्दालक के पास गए। उन्हें आते देखकर उद्दालक ने अपने मन में कहा—"ये वेद के महान् ज्ञाता अवश्य ही मुझसे कोई प्रश्न करने के लिए आए हैं, पर मैं उनके पांडित्यपूर्ण प्रश्नों का

उत्तर देने की योग्यता नहीं रखता। इसलिए मैं उनसे किसी आचार्य का नाम बताकर उनके पास जाने के लिए कहूँगा।"

जब उन पाँचों विद्वानों ने उससे आत्मा और ब्रह्म के संबंध में प्रश्न किया तो उसने कहा—"इस प्रश्न का समीचीन उत्तर मैं नहीं दे सकूँगा। यदि आप लोग केकय के राजा अश्वपति के पास चलने की कृपा करें तो बहुत अच्छा हो। उसने भी हाल ही में वैश्वानर की आत्मा से संबंध रखनेवाले ज्ञान का अध्ययन किया है।"

उद्दालक ने जब ऐसा कहा, तो वे सब लोग अश्वपति के यहाँ जाने के लिए तैयार हो गए।

जब वे लोग अश्वपति के पास पहुँचे, तो उसने उन लोगों की बड़ी आव-भगत की। दूसरे दिन प्रातःकाल वह राजा स्वयं उन लोगों के पास उपस्थित हुआ। उसने उन लोगों को बहुत-सा धन देना चाहा, पर उन लोगों ने धन स्वीकार नहीं किया।

राजा ने मन में सोचा—"ये श्रेष्ठ श्रोत्रिय (वेदज्ञ) गण इसलिए मेरा दिया हुआ धन स्वीकार नहीं कर रहे हैं कि मुझे अपराधी और अधर्मी समझते हैं।" यह सोचकर उसने उन लोगों से कहा—"मेरे राज में एक भी चोर नहीं है, न कोई सूम है, न कोई शराबी है, न गृह में अखंड रूप से जलनेवाली अग्नि को खंडित करनेवाला कोई व्यक्ति ऐसा है जो वेद-विद्या से हीन हो, न कोई व्यभिचारी पुरुष या व्यभिचारिणी स्त्री है। तब आप लोग मेरा दिया हुआ धन ग्रहण क्यों नहीं करते?"

पाँचों वेदज्ञों ने उत्तर दिया—"हम लोग धन की आकांक्षा से आपके पास नहीं आए हैं।"

इस पर राजा अश्वपति को यह संदेह हुआ कि वे लोग अधिक सम्मान चाहते हैं। यह सोचकर उसने कहा—"आदरणीय आचार्यो! मैं एक यज्ञ करने की इच्छा रखता हूँ और उस यज्ञ में मैं आप लोगों में से प्रत्येक व्यक्ति को विशेष याजक (यज्ञ करानेवाला) नियुक्त करूँगा और उस पद के अनुरूप धन दूँगा। इसलिए आप लोग मेरे यहाँ रहें।"

उन्होंने उत्तर दिया—"आप वह सब धन अपने दूसरे अतिथियों को देने की कृपा करें। हमें आप उस वैश्वानर आत्मा का ज्ञान बतायें जिसका अध्ययन आपने हाल ही में किया है।"

राजा ने कहा—"इस विषय की चर्चा मैं कल आप लोगों के आगे करूँगा।"

दूसरे दिन वे लोग जब राजा अश्वपति के पास पहुँचे तो उसने उपमन्यु-पुत्र प्राचीनशाल से पूछा—"औपमन्यव, आप किस आत्मा की उपासना करते हैं?"

प्राचीनशाल ने उत्तर दिया—"स्वर्ग की।"

अश्वपति ने कहा—"जिस आत्मा की उपासना आप करते हैं वह विश्वात्मा (वैश्वानर-आत्मा) का तेजोमय रूप है। यही कारण है कि आपके गृह में सोम-रस का समुचित प्रयोग होता है, और आप अन्न को भली भाँति पचाने में समर्थ हैं और प्रिय वस्तुओं का दर्शन करते हैं।

"जो व्यक्ति वैश्वानर की उपासना इस रूप में (स्वर्ग के रूप में) करता है वह रुचि के साथ अन्न-भक्षण करता है और उसे पचाने में समर्थ होता है, वह प्रिय वस्तुओं का दर्शन करता है, और उसका वंश वैदिक महिमा से उज्ज्वल रहता है। स्वर्ग आत्मा का शीर्ष-स्थान (सिर) है, पर यदि आप मेरे पास ज्ञान के लिए न आए होते तो निश्चय ही आपका सिर धड़ से अलग हो जाता। क्योंकि स्वर्ग विश्वात्मा का एक अंश-मात्र है न कि संपूर्ण अंग।"

उसके बाद राजा अश्वपति ने पुलुष के पुत्र सत्ययज्ञ को लक्ष्य करके कहा—"हे वेदज्ञों के प्रधान! आप किस आत्मा की उपासना करते हैं?"

सत्ययज्ञ ने उत्तर दिया—"राजन्! मैं सूर्य की उपासना करता हूँ।"

अश्वपति ने कहा—"आप जिस आत्मा की उपासना करते हैं वह वैश्वानर आत्मा का विश्वरूप है। यही कारण है कि आपके कुल में अनेक रूप दिखाई देते हैं। रथों को खींचनेवाले खच्चर आपकी आज्ञा का पालन करते हैं; आपकी दासियाँ भी मूल्यवान हार पहनती हैं: आप रुचि के साथ अन्न खाकर उसे भली भाँति पचाने में समर्थ हैं, और प्रिय वस्तुओं का दर्शन करते हैं। जो व्यक्ति इस रूप में वैश्वानर आत्मा की उपासना करता है वह अन्न भली भाँति पचाने में समर्थ होता है, प्रिय वस्तुओं का दर्शन करता है और उसके वंश में वैदिक महिमा छाई रहती है। सूर्य वैश्वानर आत्मा की आँख है। पर यदि आप मेरे पास ज्ञान के लिये न आए होते

तो निश्चय ही आपकी दोनों आँखें फूट जातीं। क्योंकि सूर्य वैश्वानर आत्मा का केवल एक अंश है, पूर्ण अंग नहीं।"

उसके बाद राजा अश्वपति ने इन्द्रद्युम्न भाल्लवेय से प्रश्न किया कि—"हे व्याघ्रपाद के वंशज! आप किस आत्मा की उपासना करते हैं?"

इन्द्रद्युम्न ने उत्तर दिया—"राजन्! मैं वायु की उपासना करता हूँ।"

अश्वपति ने कहा—"आप जिस आत्मा की उपासना करते हैं, वह विश्वात्मा के विभिन्न पथों में विचरण करने-वाला है। इसलिए विविध सेनाएँ आपकी आज्ञा के अनु-सार विविध क्षेत्रों में गमन करती रहती हैं, और विविध रथश्रेणियाँ आपका अनुसरण करती हैं।

"आप रुचि के साथ भोजन करके उसे पचाते हैं और प्रिय वस्तुओं का दर्शन करते हैं। जो इस रूप में विश्वात्मा की उपासना करता है वह रुचि के साथ भोजन करके अन्न को पचाता है, प्रिय वस्तुओं को देखता है और उसके कुल में वैदिक महिमा छाई रहती है। वायु विश्वात्मा का प्राण है। यदि आप पूर्ण ज्ञान के लिये मेरे पास न आए होते तो आपके प्राण की गति ही रुक जाती।"

उसके बाद राजा अश्वपति ने जन से कहा—"हे शार्कराक्ष्य आप किस आत्मा की उपासना करते हैं?"

जन बोला—"राजन्! मैं आकाश की उपासना करता हूँ।"

अश्वपति ने कहा—"आप जिस आत्मा की उपासना

करते हैं वह विश्वात्मा (वैश्वानर आत्मा) का बहुल रूप है—उसमें अनेक रूपों का समावेश है। यही कारण है कि आप संतति और संपत्ति में पूर्ण हैं। यही कारण है कि आप रुचि के साथ भोजन करके उसे पचाने में समर्थ हैं। क्योंकि जो व्यक्ति इस रूप में वैश्वानर आत्मा की उपासना करता है वह रुचि के साथ भोजन करके उसे पचाने में समर्थ होता है, उसके कुल में वैदिक महिमा छाई रहती है और प्रिय वस्तुओं का दर्शन करता है। आकाश वैश्वानर आत्मा का धड़ है। यदि आप मेरे पास ज्ञान प्राप्त करने के लिये न आए होते तो आपका धड़ सूख जाता, क्योंकि आप भी वैश्वानर के एक अंश की उपासना करते हैं, उसके पूर्ण रूप की नहीं।"

उसके बाद राजा ने बुडिल आश्वतराश्वि से प्रश्न किया—"हे वैयाघ्रपद्य ! आप आत्मा के किस रूप की उपासना करते हैं ?"

बुडिल ने उत्तर दिया—"राजन् ! मैं जल की उपासना करता हूँ।"

अश्वपति बोला—"आप जिस आत्मा की उपासना करते हैं वह वैश्वानर आत्मा का वैभव है। यही कारण है कि आप श्रीमान् और पुष्टिमान (स्वस्थ) हैं। यही कारण है कि आप रुचि से भोजन करके उसे पचाने में समर्थ हैं और प्रिय वस्तुओं का दर्शन करते हैं: क्योंकि जो व्यक्ति इस रूप में विश्वात्मा की उपासना करता है वह भोजन को अच्छी तरह पचाता है, प्रिय वस्तुओं का दर्शन करता है, और उसके कुल में वैदिक ज्ञान की महिमा छायी रहती है। जल विश्वात्मा का निम्न भाग

है। यदि आप मेरे पास न आए होते तो आपके शरीर का निम्न भाग नष्ट हो जाता।"

उसके बाद राजा अश्वपति ने उद्दालक आरुणि को लक्ष्य करके कहा—"हे गौतम! आप किस आत्मा की उपासना करते हैं?"

उद्दालक ने उत्तर दिया—"राजन्! मैं पृथिवी की उपासना करता हूँ।"

अश्वपति बोला—"आप जिस आत्मा की उपासना करते हैं वह वैश्वानर का चरण-भाग (प्रतिष्ठा) है। यही कारण है कि आप संतति और पशुओं द्वारा प्रतिष्ठित हैं। यही कारण है कि आप रुचि के साथ भोजन करके उसे पचाने में समर्थ हैं। जो व्यक्ति विश्वात्मा (वैश्वानर) की उपासना इस रूप में करता है वह रुचि के साथ भोजन करके उसे पचाता है, प्रिय वस्तुओं का दर्शन करता है और उसके कुल में ब्रह्मज्ञान की महिमा छायी रहती है। पृथिवी उस आत्मा का चरण-भाग है। यदि आप मेरे पास पूर्ण ज्ञान के लिये नहीं आए होते तो आपके चरणों की चलने की शक्ति ही नष्ट हो गई होती।"

उसके बाद अश्वपति ने उन पाँचों को सम्मिलित रूप से लक्ष्य करके कहा—"आप लोग वैश्वानर आत्मा को अनेक-रूपी समझकर अन्न ग्रहण करते हैं। पर जो व्यक्ति वैश्वानर-आत्मा के उस पूर्ण रूप की उपासना करता है जो पृथिवी से आकाश तक के समस्त प्रदेश में छाया हुआ है और जो 'अहम्' (मैं) का मूलबीजरूप है, वह समस्त लोकों में, समस्त रूपों में, समस्त आत्माओं में अन्न ग्रहण करता है।

"उस निखिल विश्वव्यापी (वैश्वानर) आत्मा का सिर स्वर्गलोक है, चक्षु सूर्य है, प्राण वायु है, धड़ आकाश है, निम्न भाग जल है और चरण पृथ्वी है। यज्ञ की वेदी उसकी छाती है, यज्ञ की कुशा उसके रोम हैं, गार्हपत्य अग्नि उसका हृदय है, अन्नाहार्यपचन (भोजन पचानेवाली) अग्नि उसका मन है और आहवनीय अग्नि उसका मुख है।

"उसमें जो कोई भी खाद्य-पदार्थ पहले डाला जाता है वही प्रथम आहुति है। प्रथमाहुति देते हुए कहना चाहिये—'प्राणाय स्वाहा' अर्थात् मैं प्राण को यह आहुति देता हूँ।' इससे प्राण तृप्त होता है।

"प्राण की तृप्ति से चक्षु की तृप्ति होती है; चक्षु के तृप्त होने से आदित्य (सूर्य) प्रसन्न होता है; सूर्य की तृप्ति से दिव-लोक (स्वर्ग) तृप्त होता है: स्वर्ग की तृप्ति से उन सबकी तृप्ति होती है जो सूर्य और स्वर्ग पर निर्भर करते हैं: उन सबकी तृप्ति से यज्ञ-कर्ता की तृप्ति होती है और वह संतति, पशु-संपत्ति, अन्न, तेज और ब्रह्मज्ञान की महिमा से पूर्ण होता है।"

"दूसरी आहुति देते समय कहना चाहिये—'व्यानाय स्वाहा' 'अर्थात् मैं व्यान वायु को आहुति देता हूँ।' उससे व्यान की तृप्ति होती है।

"व्यान की तृप्ति से कर्णेन्द्रिय तृप्त होता है। कर्णेन्द्रिय की तृप्ति से चंद्रमा तृप्त होता है। चन्द्रमा के तृप्त होने से दिशाएँ तृप्त होती हैं। दिशाओं की तृप्ति से उन सबकी तृप्ति होती है जो चन्द्रमा और दिशाओं पर निर्भर करते हैं। उन सबकी तृप्ति से यज्ञ करनेवाले की

तृप्ति होती है और वह संतति, पशु-संपत्ति, अन्न, तेज और ब्रह्म-महिमा से पूर्ण होता है।

'तीसरी आहुति देते समय कहना चाहिये—'अपानाय स्वाहा।' अर्थात्—'मैं अपान वायु को आहुति देता हूँ।' इससे अपान तृप्त होता है। अपान की तृप्ति से वाणी तृप्त होती है। वाणी की तृप्ति से अग्नि तृप्त होती है। अग्नि की तृप्ति से पृथिवी तृप्त होती है। पृथिवी की तृप्ति से उन सबकी तृप्ति होती है जो पृथिवी और अग्नि पर निर्भर करते हैं। उन सबकी तृप्ति से यज्ञ करनेवाले की तृप्ति होती है, और वह संतति, पशु-संपत्ति, अन्न, तेज और ब्रह्म-महिमा से पूर्ण होता है।

"चौथी आहुति देते समय कहना चाहिये—'समानाय स्वाहा' अर्थात् 'मैं समान वायु को आहुति देता हूँ।' उससे समान की तृप्ति होती है।

"समान वायु की तृप्ति से मन तृप्त होता है। मन की तृप्ति से मेघ तृप्त होता है। मेघ की तृप्ति से बिजली की तृप्ति होती है, बिजली की तृप्ति से उन सबकी तृप्ति होती है जो मेघ और बिजली पर निर्भर करते हैं। उन सबकी तृप्ति से यज्ञा-कर्ता की तृप्ति होती है, और वह संतति, पशु-संपत्ति, अन्न, तेज और ब्रह्म-महिमा से पूर्ण होता है।

"पाँचवीं आहुति देते समय कहना चाहिए—'उदानाय स्वाहा।' अर्थात्—'मैं उदान वायु को आहुति देता हूँ।' उससे उदान की तृप्ति होती है।

"उदान की तृप्ति से वायु की तृप्ति होती है। वायु के तृप्त होने से आकाश तृप्त होता है। आकाश के तृप्त

होने पर उन सबकी तृप्ति होती है जो वायु और आकाश पर निर्भर करते हैं। उन सब के तृप्त होने से यज्ञ-कर्ता की तृप्ति होती है और वह संतति, पशु-संपत्ति, अन्न, तेज और ब्रह्म-महिमा से पूर्ण होता है।

"जो व्यक्ति इन बातों को जाने बिना अग्निहोत्र (एक विशेष प्रकार का यज्ञ) करता है, उसको वैसा ही फल मिलता है जो दहकते अंगारों को त्याग कर राख पर आहुति डालता है।

"और जो व्यक्ति इन सब बातों का तत्त्व समझकर अग्निहोत्र करता है, उसका यज्ञ सब लोकों में, सब रूपों और आत्मा की सब विधियों से पूर्ण होता है।

"जिस प्रकार पुआल के सूखे तिनके आग में डाले जाने पर तत्काल जलकर भस्म हो जाते हैं, उसी प्रकार इन सब बातों का तत्त्व जानकर यज्ञ करनेवाले व्यक्ति के भी सब पाप जलकर भस्म हो जाते हैं।

"तत्त्व-ज्ञाता व्यक्ति यदि यज्ञ करने के बाद बचा हुआ उच्छिष्ट पदार्थ चांडाल को भी प्रदान करे तो भी वह वैश्वानर को आहुति देने के बराबर ही होगा। इसी ब्रह्मज्ञान-युक्त यज्ञ के लिये कहा गया है कि—

"जिस प्रकार भूखे बच्चे अपनी माताओं को भजते हैं उसी प्रकार सभी प्राणी अग्निहोत्र की उपासना करते हैं।"

तीन रूप

प्राचीन काल में श्वेतकेतु आरुणेय (अरुण का पोता) नामक एक ब्राह्मण-कुमार था। उससे एक बार उसके पिता ने कहा—"हे श्वेतकेतु ! जाओ, तुम कुछ काल के लिये किसी आचार्य के यहाँ जाकर ब्रह्मचर्य का पालन करो। वत्स ! हमारे कुल में कोई भी ऐसा व्यक्ति कभी उत्पन्न नहीं हुआ जिसने ब्रह्मज्ञान का अध्ययन न किया हो और जो स्वयं अज्ञानी रहकर ब्राह्मणों (ब्रह्म-तत्त्व के ज्ञाताओं) का केवल संबंधी बनकर ही रह गया हो।"

श्वेतकेतु ने जब पिता की इस प्रकार की बात सुनी, तो वह ब्रह्मचर्य-पालन के उद्देश्य से चल पड़ा। उस समय उसकी अवस्था बारह वर्ष की थी। एक आचार्य के आश्रम में रहकर उसने अपने चौबीसवें वर्ष तक समस्त वेदों का अध्ययन किया।

अध्ययन समाप्त कर चुकने के बाद उसके मन में यह अहंकार उत्पन्न हो गया कि उसने पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लिया

है। इसी गर्व से फूला हुआ वह लौटकर अपने घर आया। उसके पिता ने उसकी बातों के ढंग से जान लिया कि वह ज्ञान-दुर्विदग्ध होकर आया है और अपने को श्रेष्ठ ज्ञाता समझने का दंभ और आत्मविश्वास उसके मन में समाया हुआ है। यह जानकर श्वेतकेतु के पिता ने उससे कहा—"बेटा, चूँकि अपने को महाज्ञानी मानने और वेदों का पूर्ण ज्ञाता समझने की प्रवृत्ति तुममें वर्तमान है, इसलिये मैं एक बात जानना चाहता हूँ। क्या तुमने अपने गुरु से उस परम विषय के संबंध में भी कुछ सीखा है जिससे अश्रुत भी श्रुत (न सुना हुआ भी सुना हुआ) बन जाता है, अचिंतित् भी चिंतनीय बन जाता है और अज्ञात भी ज्ञात हो जाता है?"

श्वेतकेतु ने पूछा—"पिताजी वह विषय क्या है?"

उसके पिता ने उत्तर दिया—"वत्स! जिस प्रकार मिट्टी के एक ढेले का तत्त्व जान लेने से संसार के समस्त मिट्टी के बने पदार्थों का ज्ञान हो जाता है, और यह ज्ञात हो जाता है कि विभिन्न नाम-रूपों से युक्त मिट्टी के विविध पदार्थों में मिट्टी का एक ही मूल तत्त्व वर्तमान है—

"जिस प्रकार सोने के एकमात्र खंड के ज्ञान से यह ज्ञात हो जाता है कि सोने से बने हुए विभिन्न नाम-रूपों से युक्त विविध वस्तुएँ केवल विकार हैं, और सबमें सोने का एक ही मूल तत्त्व वर्तमान है—

"जिस प्रकार लोहे के बने नाख़ून काटने के औज़ार के धातु-तत्त्व का ज्ञान हो जाने से इस बात का पता लग जाता है कि लोहे की विभिन्न नाम-रूपधारी वस्तुओं का

मूल तत्त्व एक ही है. उसी प्रकार वह विषय भी है जिसका उल्लेख मैंने किया है।"

श्वेतकेतु ने जब यह सुना, तो वह बोला—"निश्चय ही मेरे आचार्य को यह विषय ज्ञात नहीं है। यदि वे जानते होते, तो क्यों उस ज्ञान को मुझसे छिपाते? भगवन्! क्या आप उस विषय को समझाने की कृपा करेंगे।"

"अच्छी बात है, वत्स!" यह कहकर श्वेतकेतु के पिता ने समझाना आरंभ किया। उन्होंने कहा—

"सौम्य! आरंभ में समस्त विश्व केवल 'सत्' रूप में विराजमान था, अर्थात् सृष्टि-चक्र का केवल मूल तत्त्व ही उस समय वर्तमान था। वह एकमात्र और अद्वितीय था। सृष्टि के समस्त बीज उसमें निहित थे, और वह निर्गुण, निराकार, अव्यक्त और अनंतव्यापी रूप से स्थित था।

"कुछ दूसरे ज्ञानियों का कहना है कि सत् के पहले असत् वर्तमान था, जिसमें सृष्टि का कोई बीज निहित नहीं था। तथापि उसी असत् से सत् की उत्पत्ति हुई।

"पर जो लोग ऐसा कहते हैं वे असंगत और असंभव बात कहते हैं। जिसमें सृष्टि का कोई बीज ही निहित न हो तो उससे 'सत्' की उत्पत्ति कैसे हो सकती है? इसलिये वत्स! तुम यही जानो कि पहले केवल एकमात्र और अद्वितीय सत् वर्तमान था।

"उस सत् ने यह इच्छा की कि मैं बहुत रूपों में व्यक्त होऊँ।' यह इच्छा उसके मन में उत्पन्न होने पर उसने तेज की सृष्टि की। उस तेज ने यह इच्छा की—

'मैं बहुत रूपों में व्यक्त होऊँ।' उसके ऐसी इच्छा करने पर जल की उत्पत्ति हुई।

"यही कारण है कि जब कभी तेज (ताप) द्वारा शरीर में उष्णता आती है या पसीना टपकने लगता है, तो उस ताप के कारण ही जल उत्पन्न होता है।

"जल ने इच्छा की—'मैं बहुत रूपों में व्यक्त होऊँ।' उसके ऐसी इच्छा करने पर अन्न की सृष्टि हुई। इसलिये जब कभी जहाँ कहीं भी वर्षा होती है, तब वहाँ अन्न अवश्य उत्पन्न होता है। जल से अन्न की उत्पत्ति होती है।"

[२]

श्वेतकेतु ने जब इस विषय में अपने पिता से और अधिक विशद बातें जाननी चाहीं तो उसके पिता ने कहा—"वत्स ! समस्त प्राणियों की उत्पत्ति तीन रूपों में होती है—अंडज (अंडों से उत्पन्न होनेवाले जीव), जीवज (जीव से उत्पन्न होनेवाले प्राणी) और उद्भिज (मिट्टी के भीतर से उत्पन्न होनेवाले पेड़-पौधे)।

"सृष्टि के देवता ने यह इच्छा की—'इन तीनों में जीवात्मा के रूप में प्रवेश करके मैं विविध नाम-रूपों से व्यक्त होऊँ। मैं इनमें से प्रत्येक को विविध रूपों में बदल दूँगा।' यह इच्छा करके उसने प्राणियों के उन तीनों रूपों में जीव बनकर प्रवेश किया और उन्हें विविध नाम-रूपों से व्यक्त किया।

"उन तीनों जीव-तत्त्वों में से प्रत्येक तीन रूपों में किस प्रकार अभिव्यक्त किया गया, वह मैं तुम्हें समझाता हूँ।

"अग्नि की जो ललाई है वह तेज के कारण है, उसकी सफ़ेदी जल के कारण है, और उसका कालापन पृथिवी

के कारण हैं। अग्नि का इस प्रकार विश्लेषण होने पर अग्नि अग्नि नहीं रह जाती ; जिस प्रकार कपड़े का तार-तार अलग हो जाने पर फिर वह कपड़ा नहीं रह जाता। इस प्रकार 'अग्नि' एक शब्दमात्र रह जाता है। वास्तविक जो-कुछ है वह उसके तीन मूल तत्त्व हैं।

"सूर्य की जो ललाई है वह तेज के कारण है, उसकी सफ़ेदी जल के कारण है और उसका कालापन पृथ्वी के कारण है। इस प्रकार तीन मूल तत्त्वों में विश्लेषित होने पर सूर्य सूर्य नहीं रह जाता। वह केवल शब्द-मात्र और नाम-मात्र रह जाता है। केवल उसके तीन मूल तत्त्व ही वास्तविक हैं।

"उसी प्रकार चन्द्रमा और बिजली के तीन मूल तत्त्वों के संबंध में भी कहा जा सकता है।

"इसी सत्य को जानने पर पूर्वकाल के महान् आचार्यों और वेदज्ञों ने कहा था—'आज से हममें से कोई व्यक्ति उस विषय की कोई चर्चा न करे जिसके संबंध में उसने न तो सुना हो, न सोचा हो और न जाना हो।

"उन पूर्वजों को जहाँ जो-कुछ भी लाल दिखाई देता था उसके संबंध में वह जान लेते थे कि वह तेज के कारण है; जो-कुछ श्वेत उन्हें दिखाई देता था, उसे वह जल का स्वरूप समझ लेते थे, और जो-कुछ उन्हें काला दिखाई देता था उसे वे पृथ्वी का अंश मानते थे।

"जो कोई पदार्थ उन्हें अज्ञात और विश्लेषण से परे मालूम होता था उसके सबंध में वे जान लेते थे। वह इन तीनों तत्त्वों का सम्मिश्रण है। अब मैं तुम्हें बताऊँगा कि

प्राणियों में किस प्रकार प्रत्येक तत्त्व भी तीन रूपों में विभक्त हो जाता है।

"अन्न को जब प्राणी पचा लेता है तो तीन रूपों में परिणत हो जाता है। उसका जो स्थूल तत्त्व है वह विष्ठा बन जाता है, जो मध्यम है वह मांस बन जाता है और जो सूक्ष्म तत्त्व है वह मन बन जाता है।

"जल को जब प्राणी पी लेता है तो वह भी तीन रूपों में बदल जाता है। उसका जो स्थूल तत्त्व है वह मूत्र बन जाता है, जो मध्यम है वह रक्त बन जाता है और जो सूक्ष्म तत्त्व है वह प्राण के रूप में परिणत हो जाता है।

"तेज-संबंधी पदार्थ (घी, मक्खन आदि स्निग्ध पदार्थ) को जब प्राणी पचा लेता है, तो उसका जो स्थूल तत्त्व है वह हड्डियाँ बन जाता है, मध्यम तत्त्व मज्जा (हड्डियों के भीतर का सार) बनता है और सूक्ष्म तत्त्व वाणी का रूप धारण कर लेते हैं।

"वत्स! मन अन्न से बनता है, प्राण जल से और वाणी तेज से बनती है।

वत्स! जब दही मथा जाता है, तो उसका जो सूक्ष्म अंश होता है वह ऊपर को उठकर मक्खन में बदल जाता है। उसी प्रकार हे सौम्य! जब अन्न पचाया जाता है तो जो सूक्ष्म तत्त्व ऊपर को उठते हैं वे मन के रूप में परिणत हो जाते हैं।

"उसी प्रकार जल से प्राण और तेज से वाणी बनती है। इसलिये मन अन्न है, जल प्राण और तेज वाणी।"

[३]

श्वेतकेतु ने इतना सुनने के बाद कहा—"भगवन्!

आप क्या इस विषय को मुझे फिर समझाने की कृपा करेंगे ?"

"अच्छी बात है, सौम्य !" यह कहकर उसके पिता ने उससे कहा—

"वत्स ! मनुष्य सोलह कलाओं से युक्त होता है। यह विषय मुझे तुम्हें समझाना है। पर इसके पहले यह आवश्यक है कि तुम पन्द्रह दिन तक अन्न ग्रहण न करो, पर जल अवश्य पीते रहो, क्योंकि प्राण जलमय है, जल पीते रहने से अन्न न खाने पर भी तुम प्राण धारण किये रहोगे।"

श्वेतकेतु ने पन्द्रह दिन तक खाना नहीं खाया। उसके बाद वह अपने पिता के पास जाकर बोला—"पिताजी, इसके बाद मुझे क्या करना होगा ?"

पिता ने कहा—"बेटा, तुम ऋक्, यजु और साम-मंत्रों को मुझे सुनाओ।"

श्वेतकेतु बोला—"पिताजी, मुझे तो इस समय इन तीनों में से किसी की भी ऋचाएँ याद नहीं आतीं।"

तब पिता ने समझाया—"सौम्य ! जब एक बहुत बड़ी आग समाप्त होकर केवल एक चिनगारी के रूप में, जुगनू के आकार में, शेष रह जाती है, तो वह अधिक ईंधन जलाने में समर्थ नहीं हो सकती। उसी प्रकार तुम्हारी सोलह कलाओं में से केवल एक कला शेष रह गई है। यही कारण है कि वेदों की ऋचाएँ तुम्हें स्मरण नहीं आतीं। जाओ पहले कुछ खा लो, और तब मेरे पास आओ।"

श्वेतकेतु ने जाकर खाना खाया और तब वह अपने

पिता के पास वापस चला आया। उसके पिता ने तब वेद से जो-कुछ भी उससे पूछा उसने बता दिया।

तब उसके पिता ने कहा—"वत्स! जिस प्रकार जुगनू की चमक के समान एक छोटी-सी चिनगारी में सूखे पुआल के तिनके पड़ जाने से वह प्रज्वलित हो उठती और बहुत-सा ईंधन जलाने में समर्थ होती है; उसी प्रकार तुम्हारी षोडश कलाओं का अंतिम अवशेष जब तनिक अन्न पा गया तो तुम वेदों को स्मरण करने योग्य बन गए। इसीलिये मैंने यह कहा है कि मन अन्न से बना है, प्राण जल से और वाणी तेज से।"

श्वेतकेतु इस बार आलोच्य विषय को पूर्णतया समझने में समर्थ हो गया।

तत्त्वमसि

उद्दालक आरुणि के पुत्र श्वेतकेतु ने अपने पिता से यह जानना चाहा कि निद्रा क्या है। उद्दालक ने कहा–"सौम्य! मैं तुम्हें बताता हूँ कि निद्रा क्या है, सुनो।

"जब मनुष्य के संबंध में यह कहा जाता है कि वह सो रहा है, तो उस अवस्था में यह जानना चाहिये कि विश्वात्मा, जो सत् है, उससे उसका तादात्म्य हो गया है, अर्थात् उस अवस्था में उसकी बाह्य चेतना कुछ नहीं रह जाती और वह अन्तश्चेतना के साथ एक-रूप हो जाती है। उस अवस्था में वह अपने वास्तविक अपनेपन को प्राप्त हो जाता है, इसीलिये सोये हुए व्यक्ति के लिये कहा जाता है कि 'स्वप्न' (स्व=अपना) की अवस्था में है।

"जिस प्रकार डोर से बँधी हुई चिड़िया फड़फड़ाती हुई कभी इस ओर और कभी उस ओर उड़ने की चेष्टा करती रहती है और अंत में विश्राम के लिये कोई दूसरे स्थान पर उसी वस्तु या स्थान पर आकर बैठती है, जिससे वह डोर बँधी रहती है, उसी प्रकार मन,

इधर-उधर भटकने के वाद अंत में विश्राम के लिये कोई दूसरा स्थान न पाकर प्राण (या आत्मा) का आश्रय पकड़ता है। वत्स ! मन की डोर प्राण ही है।"

श्वेतकेतु ने पूछा-"पिताजी, मुझे भूख और प्यास की विशेषता से परिचित कीजिए।"

उद्दालक ने कहा-"जब मनुष्य के संबंध में यह कहा जाता है कि "वह भूखा है," तो इसका अर्थ यह है कि उसके शरीर के भीतर अन्न और जल की कमी है। वह अन्न भक्षण करता है, और उस अन्न को पानी उसके गले के नीचे उतारता है। इसीलिये पानी को 'अशनाय' (अन्न को नीचे ले जानेवाला) कहा जाता है। इसलिये इस शरीर का कारण भी वही है। वत्स ! यह न सोचना कि इस शरीर की उत्पत्ति विना कारण के हुई है।"

श्वेतकेतु ने प्रश्न किया—"पिताजी, वह कारण क्या है ?"

उद्दालक ने उत्तर दिया-"जल को छोड़कर दूसरा कौन कारण इसका हो सकता है ? अन्न को उत्पन्न करने-वाला जल है और शरीर अन्न से उत्पन्न होता है। इस-लिये शरीर का मूल कारण जल ही है। जल की उत्पत्ति तेज से होती है, और तेज का मूल कारण सत् अथवा सत्य है। इस प्रकार इस विश्व के समस्त प्राणियों की उत्पत्ति का मूल कारण सत्य ही है।

"जब मनुष्य के संबंध में यह कहा जाता है कि "वह प्यासा है" तो यह जानना चाहिये कि उसके शरीर में जल का अभाव है। तेज के द्वारा वह जल को अपने गले के नीचे उतारता है। इसीलिये तेज को उदन्य (पानी को

ले जानेवाला) कहा जाता है। इस शरीर का कारण वही है। यह न समझना कि इसकी उत्पत्ति बिना कारण के हुई है।"

"वह कारण क्या है, पिताजी?" श्वेतकेतु ने पूछा।

उद्दालक ने कहा—"जल को छोड़कर दूसरा कौन कारण इसका हो सकता है? इस प्रकार सौम्य! तुम्हें जानना चाहिये कि तेज ही जल का कारण है, और तेज का कारण सत्य है। इस प्रकार इस विश्व के समस्त प्राणियों की उत्पत्ति, स्थिति और अंत का मूल कारण सत्य ही है। जब मनुष्य इस संसार को छोड़ देता है, तो उसकी वाणी मन में विलीन हो जाती है, मन प्राण में विलीन हो जाता है, प्राण तेज में लीन हो जाता है और तेज परब्रह्म में मग्न हो जाता है।

"समस्त विश्व का प्राण वही परब्रह्म है। वह परब्रह्म सत्य है। वही इस विश्व की आत्मा है। हे श्वेतकेतु! तुम स्वयं भी वही आत्मा हो!"

[२]

श्वेतकेतु ने अपने पिता के ज्ञान-वचन सुनकर कहा—"मैं वही आत्मा किस प्रकार हूँ, क्या आप इसे और स्पष्ट करके समझाने की कृपा करेंगे?"

उद्दालक ने कहा—"वत्स! अच्छी बात है, सुनो। जिस प्रकार मधुमक्खियाँ मधु तैयार करने के उद्देश्य से विभिन्न स्थानों से विभिन्न वृक्षों (के फूलों) का रस (सार) इकट्ठा करती हैं और उन सब रसों को एक ऐसे विशिष्ट रस में परिणत कर देती हैं जो आकार और प्रकार में विभिन्न वृक्षों के रसों से कोई समानता नहीं रखता;

उसी प्रकार, वत्स ! विश्व के समस्त प्राणी मृत्यु के बाद एकमात्र सत्य के रूप में परिणत हो जाते, और उनके नाम-रूप के सब भेद मिट जाते हैं।

"उसके बाद वे फिर उन-उन विशिष्ट नामों और रूपों को धारण करके जन्म लेते हैं जिन्हें वे मरने के पहले धारण किये हुए थे। बाघ, सिंह, भेड़िया, भालू, कीड़ा, पतिंगा, मच्छर आदि सभी जीव-जंतुओं के संबंध में यह बात कही जा सकती है।

"जो अणु का अणु-रूप मूल तत्त्व इन सब प्राणियों की आत्मा है वही सत्य है। हे श्वेतकेतु ! तुम स्वयं वही आत्मा और वही सत्य हो।"

श्वेतकेतु ने कहा—"पिताजी, इस विषय को कुछ और स्पष्ट करके समझाने की कृपा कीजिए।"

उद्दालक ने कहा—"अच्छी बात है, वत्स ! सुनो। ये नदियाँ पूर्व से निकलकर पश्चिम की ओर बहती हैं, और उसके बाद समुद्र से क्रमशः भाप, बादल और वर्षा के रूप में परिणत होने के बाद नये सिरे से जन्म ग्रहण करके अन्त में फिर समुद्र ही में जाकर विलीन होती हैं।

"जिस प्रकार ये नदियाँ नहीं जानतीं कि उनकी उत्पत्ति कैसे हुई, इसी प्रकार सृष्टि के प्राणी सत्य से उत्पन्न होने के बाद यह नहीं जानते कि उससे उनकी उत्पत्ति हुई है। पर न जानने पर भी वे अपने पूर्व जन्म की आकृति-प्रकृति और नाम-रूप को प्राप्त कर लेते हैं।

"जो अणु का भी अणु-रूप मूल तत्त्व इन सब प्राणियों की आत्मा है वही सत्य है। हे श्वेतकेतु ! तुम स्वयं भी वही हो।"

श्वेतकेतु ने कहा—"पिताजी, मुझे एक बार और स्पष्ट रूप से यह समझाने की कृपा कीजिए कि प्राणी निद्रा की अवस्था में और मृत्यु की अवस्था में विश्वात्मा में विलीन होने पर भी अपनी विशिष्टता क्यों नहीं खोते ?"

उसके पिता बोले—"सुनो, मैं तुम्हें समझाता हूँ। यदि किसी महान् वृक्ष की जड़ पर कुल्हाड़ा से मारा जाय तो उसमें से उसके भीतर का जीवन-रस टपकने लगेगा। यदि उसी वृक्ष के बीच में कुल्हाड़े से आघात किया जाय, तो भी उससे जीवन-रस टपकने लगेगा। और यदि उसकी चोटी पर कुल्हाड़ा चलाया जाय, तो वहाँ से भी रस निकलेगा। जब तक उसमें जीवन का संचार रहेगा तब तक वह पृथ्वी से सत्व ग्रहण करता रहेगा।

"पर जब एक शाखा जीवन से रहित हो जायगी तो वह सूख जावेगी। जब दूसरी शाखा जीवन से शून्य हो जावेगी तो वह भी सूख जावेगी। अन्त में जब संपूर्ण वृक्ष जीवन-रस से रहित हो जावेगा, तब वह पूरे का पूरा सूख जावेगा।

"तुम यह जाने रहो कि जब इस शरीर से जीवन चला जाता है, तब शरीर अवश्य मर जाता है, किन्तु जीवन नहीं मरता। वह जीवन, जो इस शरीर का आत्मा है, सत्य है। सत्य ही विश्व की आत्मा है। हे श्वेतकेतु! तुम स्वयं भी वही आत्मा हो।"

[३]

श्वेतकेतु के मन में फिर भी कुछ शंकाएँ बनी रह

गई। उसकी ज्ञान-पिपासा की पूर्ण तृप्ति तब भी नहीं हुई। उसने अपने पिता से कहा—"पिताजी, आप क्या यह बताने की कृपा करेंगे कि अदृश्य और नाम-रूप-रहित सत्य से सृष्टि की उत्पत्ति और विकास कैसे होता है?"

उसके पिता बोले—"अच्छी बात है। पहले तुम मेरे लिये वट-वृक्ष का एक फल लाओ।"

श्वेतकेतु पास ही एक वट-वृक्ष से फल तोड़कर ले आया और बोला—"पिताजी, लीजिए, यह है वट-वृक्ष का फल।"

उद्दालक ने कहा—"इस फल को तोड़ो।"

श्वेतकेतु उसे तोड़कर बोला—"लीजिए, मैंने तोड़ दिया है।"

उसके पिता ने पूछा—"इसके भीतर तुमने क्या पाया?"

"छोटे-छोटे बीज।"

उद्दालक ने कहा—"इनमें से एक बीज को भी तोड़ डालो।"

श्वेतकेतु बीज को तोड़ने के बाद बोला—"लीजिए, मैंने बीज भी तोड़ दिया है।"

"इस बीज के भीतर तुमने क्या देखा?"

श्वेतके ने कहा—"कुछ भी नहीं।"

तब उद्दालक ने समझाया—"बेटा, इस 'कुछ नहीं' से ही महान् वट-वृक्ष की उत्पत्ति हुई है। उसी प्रकार जो सत् (या सत्य) तुम्हें अदृश्य और नाम-रूप से रहित है उसी से इतनी विराट् सृष्टि खड़ी हुई है। वह

सत्य ही आत्मा है, और हे श्वेतकेतु, तुम स्वयं भी वही हो।"

श्वेतकेतु ने इतनी बातें सुनने के बाद कहा—"पिता जी, क्या आप मुझे यह समझाने की कृपा करेंगे कि सत्य से सृष्टि की उत्पत्ति होने पर भी वह स्थायी क्यों नहीं रहती?"

उद्दालक आरुणि बोले—"अच्छी बात है, मैं समझाऊँगा। पर पहले तुम एक काम करो। पानी में कुछ नमक डाल कर रख दो। फिर कल सुबह उसे लेकर मेरे पास आओ।"

श्वेतकेतु ने वैसा ही किया। दूसरे दिन प्रातःकाल वह वही नमक डाला हुआ पानी लेकर अपने पिता के पास पहुँचा।

उसके पिता ने कहा—"जो नमक तुमने इस पानी में छोड़ा था उसे खोज निकालो।"

पर चूँकि वह नमक पानी में घुल गया था इसलिये श्वेतकेतु उसे निकाल नहीं सका।

तब उद्दालक ने कहा—"सौम्य, इस पानी के ऊपर का भाग थोड़ा-सा चख लो।"

श्वेतकेतु ने वैसा ही किया।

उद्दालक ने पूछा—"तुमने इस पानी का स्वाद कैसा पाया?"

श्वेतकेतु बोला—"पिताजी, यह नमकीन है।"

"अब थोड़ा-सा बीच के भाग में से चखो।"

श्वेतकेतु ने उसे चखा।

"इसका स्वाद तुम्हें कैसा लगा?"—उद्दालक ने पूछा।

[४]

श्वेतकेतु का ज्ञान जब इस हद तक बढ़ा, तो उसे उस अनंत रहस्यमय आत्मा के संबंध में और अधिक विशद ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा हुई। उसने अपने पिता से कहा—"पिताजी, नमक जिस प्रकार अदृश्य होने पर भी जीभ द्वारा अनुभूत हो सकता है, उसी प्रकार विश्व का कारण जो आत्मा है, इंद्रियों द्वारा अनुभव-गम्य न होने पर भी मन तथा बुद्धि द्वारा कैसे अनुभूत हो सकता है, इस विषय को समझाने की कृपा कीजिए। मैं जान गया हूँ कि जब तक मैं इस आत्मा का अनुभव नहीं कर पाता तब तक मेरा कल्याण नहीं है। पर मैं यह जानना चाहता हूँ कि उसके अनुभव का साधन क्या है?"

पिता ने कहा—"सौम्य! अच्छी बात है। मैं तुम्हें यह भी समझाता हूँ, ध्यान से सुनो। यदि गंधार देश के किसी पुरुष की आँखों में पट्टी बाँधकर उसे वहाँ से दूर किसी निर्जन स्थान में छोड़ दिया जाय, तो वह यह चिल्लाकर समस्त दिशाओं को गुँजा देता है कि 'मेरी आँखों में पट्टी बँधी हुई है, मुझे इस अवस्था में यहाँ अकेला छोड़ दिया गया है!' तब कोई दयालु पुरुष आकर उसकी आँखों की पट्टी खोलकर स्वभावतः उससे कहेगा—'गंधार देश का मार्ग यह है, तुम इस रास्ते से होकर वहाँ जाओ।' तब वह मनुष्य, जिसकी आँखों में पट्टी बाँध दी गई थी, गाँव-गाँव में मार्ग पूछता हुआ गंधार पहुँच जायगा। इसी प्रकार सच्चे ज्ञान की इच्छा रखनेवाला मनुष्य योग्य गुरु को पाकर आत्मा को

प्राप्त करने का मार्ग जान लेता है, और तब तक चैन नहीं लेता जब तक समस्त सांसारिक बंधनों से मुक्त होकर चरम सत्य (मोक्ष) को प्राप्त नहीं कर लेता। विश्व की अणु-रूप आत्मा यही सत्य है, हे श्वेतकेतु, तुम स्वयं भी वही हो।"

श्वेतकेतु ने कहा—"पिताजी, आप कृपा करके फिर एक बार दृष्टान्त द्वारा यह समझाइए कि यह सत्य कैसे प्राप्त किया जा सकता है।"

उसके पिता ने कहा—"अच्छी बात है। मैं और दृष्टान्त द्वारा अपनी बात स्पष्ट करूँगा। जब कोई व्यक्ति रोग से पीड़ित होकर मरणासन्न अवस्था में होता है, तो उसके संबंधी उसकी परिचर्या के लिये उसे घेरे रहते हैं, और उससे पूछते हैं—"मुझे पहचान रहे हो? मुझे पहचान रहे हो?" वह उन्हें पहचानता है, पर बाद में जब उसकी वाणी मन में लीन हो जाती है, मन प्राण में लीन हो जाता है, प्राण तेज में लय हो जाता है और तेज आत्मा में लय हो जाता है, तब वह किसी को भी नहीं पहचान पाता।

"जिस अणु-रूप आत्मा में ये सब तत्त्व लीन हो जाते हैं वही परम सत्य है। हे श्वेतकेतु! तुम वही हो।"

श्वेतकेतु ने कहा—"पिताजी, अब कृपा करके यह समझाइए कि ज्ञानहीन मनुष्य मरने के बाद फिर क्यों इस संसार में लौट आता है, और ज्ञानी मुक्त होकर क्यों नहीं लौटता। मृत और मुक्त दोनों प्रकार के व्यक्ति जब आत्मा में लय हो जाते हैं, तो फिर यह अंतर क्यों?"

उद्दालक ने कहा—"अच्छी बात है। मैं तुम्हें एक दूसरे दृष्टांत द्वारा यह बात समझाऊँगा। वत्स! जब कोई व्यक्ति चोरी के संदेह पर पकड़ा जाता है और न्यायाधीश के आगे बंदी अवस्था में लाया जाता है, तो न्यायाधीश उससे कहता है—'तुमने चोरी की है, इस-लिये तुम्हें दंड दिया जायगा।' वह अस्वीकार करता है। इस पर न्यायाधीश अपने नौकरों को आदेश देता है—'इसके लिये एक कुल्हाड़ी भट्ठी में गरम करो। जब वह लाल हो जावे तो लाओ।' जब भट्ठी में गरम की हुई आग की तरह लाल कुल्हाड़ी लाई जाती है, तो अभियुक्त से उसे पकड़ने के लिये कहा जाता है। यदि उस व्यक्ति ने सचमुच चोरी की हो और झूठ बोलकर अपनी रक्षा करना चाहता हो, तो कुल्हाड़ी के जलते हुए फल को पकड़ते ही उसका हाथ जलकर नष्ट हो जाता है। पर यदि उसने चोरी न की हो, तो सत्य बोलने और अपनी आत्मा को सत्य से छा देने के कारण उसे पकड़ने पर भी उसका हाथ नहीं जलता। उसे बंधन से मुक्ति मिल जाती है।

"जिस प्रकार वह व्यक्ति सत्य का आश्रय ग्रहण करने के कारण जलने से बच जाता है, उसी प्रकार आत्मा के सत्य का आश्रय ग्रहण करनेवाला भी आवा-गमन के चक्र से बच जाता है। हे श्वेतकेतु! तुम स्वयं भी वही सत्य हो।"

श्वेतकेतु ने कहा—"पिताजी! अब मैं उस सत्य को भली भाँति समझ गया हूँ।"

नारद और सनत्कुमार

एक बार नारद सनत्कुमार के पास गए और बोले—"भगवन्! मुझे ज्ञान सिखाइए।"

सनत्कुमार ने कहा—"पहले मुझे यह बतलाओ कि तुमने किन-किन विषयों में और कहाँ तक शिक्षा पाई है। तब मैं उसके आगे तुम्हें शिक्षा दूँगा।"

नारद बोले—"भगवन्! मैंने इतने विषयों का अध्ययन किया है—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, इतिहास, पुराण, व्याकरण, कर्मकाण्ड-विद्या, गणित (राशि), देव-विद्या, विधि (काल-गणना विद्या), तर्क-शास्त्र (वाको-वाक्य-विद्या), नीति-शास्त्र (एकायन), देव-विद्या, ब्रह्म-विद्या, भूत-विद्या, क्षत्र-विद्या, नक्षत्र-विद्या, सर्प-विद्या तथा देवजन-विद्या (ललित-कला)।

"इन विषयों के मंत्रों और शब्दों का ज्ञान मुझे है, (अर्थात्—मैं उनके वाक्यों और शब्दों का अर्थ समझता हूँ, पर उनका तात्त्विक ज्ञान मुझे नहीं है। मैंने सुना है कि सांसारिक शोकों से पीड़ित व्यक्ति आपके समान

ज्ञानियों के निकट शोकों में छुटकारा पाता है। मेरी आपसे यह प्रार्थना है कि मुझे दुःख-शोक से पार उतारिए।"

सनत्कुमार ने नारद से कहा—"हे नारद! तुमने जो कुछ सीखा वह नाम-मात्र है। जितनी भी विद्याओं का उल्लेख तुमने किया है, उनका केवल-मात्र शाब्दिक अर्थ जानकर एक प्रकार से उनके नामों की ही उपासना तुमने की है। इसका भी कुछ महत्त्व अवश्य है। जो व्यक्ति ब्रह्म की उपासना नाम-रूप में करते हैं वे जब जैसा चाहें वैसा करने में समर्थ होते हैं।"

नारद ने पूछा—"भगवन्! क्या कोई ऐसा भी तत्त्व है जो नाम से बड़ा है?"

सनत्कुमार ने उत्तर दिया—"हाँ, एक तत्त्व ऐसा है जो नाम से भी बड़ा है।"

"वह तत्त्व क्या है, भगवन्! क्या आप मुझे बताने की कृपा करेंगे?"

सनत्कुमार ने उत्तर दिया "वाणी नाम से बड़ी है। वाणी केवल ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, इतिहास-पुराण, व्याकरण, कर्मकाण्ड-विद्या, गणित, क्षत्र-विद्या, नक्षत्र-विद्या, ललित-कला आदि का ज्ञान ही नहीं बताती, बल्कि स्वर्ग, मर्त्य, वायु, आकाश, जल, तेज, देवगण, मनुष्य, पशु, पक्षी, पेड़-पौदे, मांसाहारी जंतु, कीट-पतंग, चींटियाँ, पाप, पुण्य, सत्य, असत्य, साधु-असाधु, सहृदय, असहृदय आदि सभी विषयों का ज्ञान बताती है। इसलिये तुम्हें वाणी की उपासना करनी चाहिये। जो व्यक्ति वाणी को ब्रह्म मानकर उपासना करता है वह

वाणीलोक को प्राप्त होता है, और जैसा चाहता है वैसा करने में समर्थ होता है।"

नारद ने पूछा—"क्या कोई तत्त्व ऐसा भी है जो वाणी से भी बड़ा है ?"

सनत्कुमार ने उत्तर दिया—"हाँ, एक तत्त्व ऐसा है जो वाणी से भी बड़ा है।"

"वह क्या है, भगवन् ! क्या आप मुझे बताने की कृपा करेंगे ?"

सनत्कुमार ने कहा—"मन वाणी से श्रेष्ठ है। जिस प्रकार दो आँवले, दो बेर या दो हरें मुट्ठी के अंदर बंद कर लिये जाते हैं उसी प्रकार मन की मुट्ठी के भीतर नाम और वाणी भी बंद हैं। किसी के मन में जब मंत्रों का अध्ययन करने का विचार उत्पन्न होता है तो वह अध्ययन करने लगता है, जब उसके मन में काम करने का संकल्प उठता है, तो वह काम करने लगता है, जब वह पशुओं को पालने या संतान उत्पन्न करने की इच्छा करता है, तो वैसा ही करने में समर्थ होता है, जब वह किसी विशेष लोक की प्राप्ति के लिये मन में दृढ़ संकल्प करता है तो वह उस लोक को अवश्य प्राप्त कर लेता है। मन ही आत्मा है, मन ही लोक है, मन ही ब्रह्म है। इसलिये तुम्हें मन की उपासना करनी चाहिये। जो व्यक्ति मन को ब्रह्म मानकर उसकी उपासना करता है, वह मनोलोक में पहुँचकर जैसा करने की इच्छा करता है वैसा ही करने में समर्थ होता है।"

नारद ने पूछा—"भगवन्, क्या कोई तत्त्व मन से भी बड़ा है ?"

"हाँ, एक तत्त्व ऐसा है जो मन से भी बड़ा है।"

"वह तत्त्व क्या है, क्या आप मुझे बताने की कृपा करेंगे?"

सनत्कुमार ने कहा—"संकल्प मन से भी बड़ा है। जब कोई व्यक्ति किसी बात के लिये संकल्प करता है तो उसे पा जाता है। वह वाणी को नाम से अभिभूत करता है; उस नाम द्वारा मंत्र अपने को व्यक्त करते हैं और मंत्रों में समस्त कर्म निहित रहते हैं।

"उन सब कर्मों का आधार संकल्प ही है। उनकी आत्मा संकल्प ही है, और वे संकल्प ही में निवास करते हैं। स्वर्ग और मर्त्य संकल्प द्वारा ही संयुक्त हैं; वायु और आकाश भी संकल्प द्वारा ही एक दूसरे से मिले हुए हैं; जल और तेज भी संकल्प के ही कारण परस्पर सम्मिलित हैं। उनके योग से वर्षा बनता है। वर्षा के संकल्प से अन्न की उत्पत्ति होती है। अन्न से प्राणियों का जन्म होता है। प्राणियों से मंत्रों की उत्पत्ति होती है। मंत्रों के संकल्प से कर्मकाण्ड होते हैं। कर्मकाण्डों से कर्मफल की उत्पत्ति होती है। कर्मफल से लोकों का जन्म होता है। लोकों के संकल्प से सब कुछ उत्पन्न होता है। इसलिये तुम संकल्प की उपासना किया करो।

"जो व्यक्ति संकल्प को ब्रह्म मानकर उसकी उपासना करता है, वह संकल्प के शाश्वत, प्रतिष्ठित और संतापरहित लोक में स्थायी रूप से वास करता है। जो संकल्प की उपासना ब्रह्म-रूप में करता है, वह जिस क्षण संकल्प लोक में पहुँचता है, त्यों ही उसकी समस्त इच्छाओं की पूर्ति हो जाती है।"

[२]

नारद ने पूछा—"भगवन् ! क्या कोई तत्त्व संकल्प से भी बड़ा है?"

"हाँ, एक तत्त्व ऐसा है जो संकल्प से भी बड़ा है।"

नारद ने कहा—"वह क्या है भगवन्, क्या आप बताने की कृपा करेंगे?"

सनत्कुमार ने उत्तर दिया—"चित्त संकल्प से भी बड़ा है। जब किसी विषय की चेतना (अनुभूति) होती है, तो संकल्प उठता है। उसके बाद उसके मन में कामना जगती है। कामना जगने के बाद वह उसे वाणी का रूप देता है। वाणी नाम में एकरूप हो जाती है, उस नाम द्वारा मंत्र अपने को व्यक्त करते हैं, और मंत्रों में कर्म निहित रहते हैं।

"उन सब कर्मों का एकमात्र आधार चित्त (अनुभूति) है। उनकी आत्मा चित्त ही है और चित्त में ही उनका निवास है। इसलिये यदि कोई व्यक्ति नाना शास्त्रों का पंडित हो, और चित्त (अनुभूति और चिंतना-शक्ति) से रहित हो, तो विद्वान् लोग उसके संबंध में यही कहेंगे कि 'वह कुछ नहीं जानता, क्योंकि वह चित्त से—चिंतना-शक्ति से—रहित है।' (अर्थात्, उसने तोते की तरह केवल मंत्र रट लिये हैं और उनका शाब्दिक अर्थ जान लिया है, पर उसके तात्त्विक अर्थ का कोई ज्ञान उसे नहीं हो सकता, क्योंकि वह किसी विषय पर चिंतन और मनन नहीं करता।) चित्त ही इन सबका मूल है, चित्त ही की आत्मा है, चित्त ही

प्रतिष्ठा (आधार) है। इसलिये तुम चित्त की उपासना करो।"

नारद ने पूछा—"भगवन्! क्या कोई तत्त्व ऐसा भी है जो चित्त से बड़ा है?"

"हाँ, एक तत्त्व ऐसा है जो चित्त से भी बड़ा है।"

"वह क्या है भगवन्, क्या आप बताने की कृपा करेंगे?"

सनत्कुमार ने कहा—"ध्यान चित्त से श्रेष्ठ है। पृथ्वी सब समय ध्यान में अवस्थित-सी रहती है; आकाश भी सब समय ध्यान में स्थिर-सा रहता है; स्वर्ग, जल, पर्वत, देवता और मनुष्य सभी ध्यान में स्थिति पाते हैं। इसलिये जो लोग महान् हैं, वे ध्यान को अपनाते हैं और जो हीन, कलह-प्रिय (झगड़ालू), दुष्ट और दूसरों की निंदा करनेवाले हैं वे भी ध्यान को ही अपनाते हैं। ध्यान सबमें सब रूपों में वर्तमान है। इसलिये तुम ध्यान की उपासना करो।"

नारद ने पूछा—"भगवन्! क्या कोई तत्त्व ऐसा है जो ध्यान से भी बड़ा है?"

"हाँ, एक तत्त्व ऐसा है जो ध्यान से भी बड़ा है।"

"वह क्या है, क्या आप बताने की कृपा करेंगे?"

सनत्कुमार ने कहा—"विज्ञान ध्यान से भी बड़ा है। विज्ञान द्वारा ही लोग ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, इतिहास-पुराण, व्याकरण, कर्मकाण्ड-विद्या, गणित (राशि) विद्या, दैव-विद्या, काल-गणना विद्या। तर्क-शास्त्र, नीति-शास्त्र, देव-विद्या, ब्रह्म-विद्या, भूत-

विद्या, क्षत्र-विद्या, नक्षत्र-विद्या, सूर्य-विद्या, देव-जन-विद्या (ललित-कला), स्वर्ग, मर्त्य, वायु, आकाश, जल, तेज, देवता, मनुष्य, कीट-पतंग, धर्म-अधर्म, सत्य-असत्य, साधु-असाधु, सहृदय, असहृदय, अन्न, रस, यह लोक और परलोक आदि सब विषयों का ज्ञान होता है। इसलिये तुम विज्ञान की उपासना करो।

नारद ने पूछा—"भगवन्! क्या कोई तत्त्व ऐसा है जो विज्ञान से भी बड़ा है?"

"हाँ, एक तत्त्व ऐसा है जो विज्ञान से भी बड़ा है।

"वह क्या है भगवन्! क्या आप बताने की कृपा करेंगे?"

सनत्कुमार ने कहा—"बल विज्ञान से भी बड़ा है। एक बलशाली व्यक्ति सौ विज्ञान-वेत्ताओं को भय से कँपा देता है। बल प्राप्त करने पर व्यक्ति का उत्थान होता है; उत्थान होने पर वह अपने गुरु की सेवा करता है, सेवा करने पर वह उनका प्रिय साथी बन जाता है; प्रिय साथी बनने पर उसे गुरु भली भाँति शिक्षा देता है, जिससे द्रष्टा (किसी तत्त्व के भीतर दृष्टि डाल सकनेवाला), श्रोता (किसी विषय को ठीक प्रकार से ग्रहण करनेवाला), मंता (मनन करने-वाला), बोद्धा (ठीक प्रकार से समझनेवाला), कर्त्ता (संकल्पित कार्य को करने की शक्ति रखनेवाला) और विज्ञाता (ज्ञान से युक्त) बन जाता है। बल पर ही सारी पृथ्वी प्रतिष्ठित है। आकाश, स्वर्ग, पर्वत, मनुष्य, देवता, पशु-पक्षी, पेड़-पौधे, कीट-पतंग और सभी लोक बल पर ही प्रतिष्ठित हैं। इसलिये तुम बल की उपासना

करो। बल को ब्रह्म जानकर उसकी उपासना करनेवाला व्यक्ति बल के लोक में पहुँचकर जैसा चाहता है वैसा करने में समर्थ होता है।"

नारद ने पूछा—"भगवन्! क्या कोई तत्त्व ऐसा है जो बल से भी बड़ा है ?"

"हाँ, एक तत्त्व ऐसा है जो बल से भी बड़ा है।"

"वह क्या है, भगवन्! क्या आप बताने की कृपा करेंगे ?"

सनत्कुमार ने कहा—"अन्न बल से बड़ा है। क्योंकि यदि कोई व्यक्ति दस दिन तक भूखा रहे, तो उसमें न कुछ देखने की शक्ति रह जायगी, न सुनने की, न सोचने की, न चिंतन करने की, न कर्म करने और न ज्ञान प्राप्त करने की। अन्न ग्रहण करते ही वह देखने, सुनने, सोचने, विचारने, कर्म करने और ज्ञान प्राप्त करने के योग्य बन जाता है। इसलिये तुम अन्न की उपासना करो। जो व्यक्ति अन्न को ब्रह्म मानकर उसकी उपासना करता है वह अन्न के लोक में पहुँचकर समस्त कामनाओं को चरितार्थ करने में समर्थ होता है।"

[३]

नारद ने पूछा—"भगवन्! क्या कोई तत्त्व ऐसा है जो अन्न से भी बड़ा है ?"

"हाँ, एक तत्त्व ऐसा है जो अन्न से भी बड़ा है।"

"वह क्या है भगवन्! क्या आप बताने की कृपा करेंगे ?"

सनत्कुमार ने कहा—"जल अन्न से भी बड़ा है।

यदि आकाश से जल न बरसता, तो अन्न उत्पन्न न होता, और सब प्राणी भूखों मरने लगते। वर्षा होने से सब प्राणियों को जीवन धारण करने का आधार प्राप्त होता है, इसलिये वर्षा उन्हें आनंदित करती है। जल ही सृष्टि का प्रथम तत्त्व है। उसी से पृथ्वी-पर्वत, मनुष्य, पशु-पक्षी, पेड़-पौधे, कीट-पतंग आदि की उत्पत्ति होती है। जल ही प्रथम तत्त्व है इसलिये जल की उपासना करो।

"जो व्यक्ति जल को ब्रह्म जानकर उसकी उपासना करता है उसकी सब इच्छाओं की पूर्त्ति होती है और वह तृप्त होता है।"

नारद ने पूछा—"भगवन्! क्या कोई तत्त्व ऐसा है, जो जल से भी बड़ा है?"

"हाँ, एक तत्त्व ऐसा है जो जल से भी बड़ा है।"

"वह क्या है, क्या आप बताने की कृपा करेंगे?"

सनत्कुमार ने कहा—"तेज जल से भी श्रेष्ठ है। वायु के माध्यम से यह आकाश को तप्त करता है, और सब लोग कहते हैं—'आज मौसम गरम है, संभवतः वर्षा होगी।' इस प्रकार तेज की अभिव्यक्ति के बाद जल की उत्पत्ति होती है। जब आकाश में वज्र गर्जन करता है, और बिजली कौंधती है, तो लोग कहते हैं—'बिजली चमक रही है, बादल गरज रहे हैं, वर्षा होगी, ऐसा जान पड़ता है।' इस प्रकार तेज के बाद जल की सृष्टि होती है। तुम तेज की उपासना करो।

"जो तेज को ब्रह्म मानकर उसकी उपासना करता है वह तेजोमय और प्रकाशमय लोक में निवास करता

है। तेज के लोक में पहुँचने पर उसकी सब इच्छाओं की पूर्त्ति हो जाती है।"

नारद ने पूछा—"भगवन्! क्या कोई ऐसा तत्त्व है, जो तेज से भी बड़ा है।"

"हाँ, एक तत्त्व ऐसा है, जो तेज से भी बड़ा है।"

"वह क्या है, क्या आप बताने की कृपा करेंगे?"

सनत्कुमार ने कहा—"आकाश तेज से भी श्रेष्ठ है। सूर्य और चन्द्रमा आकाश ही में स्थित हैं, और तारे, विजली और तेज भी उसी में निवास करते हैं। लोग आकाश के माध्यम से ही सुन पाते हैं, आकाश के माध्यम से ही देख पाते हैं। वे आकाश के कारण ही आनंद की अनुभूति में रमते हैं, और आकाश के कारण ही नहीं रमते (अर्थात् मृत्यु और विनाश का कारण भी आकाश ही है)। आकाश से ही उनकी उत्पत्ति होती है और आकाश में ही वे विलीन होते हैं। तुम आकाश की उपासना किया करो।

"जो व्यक्ति आकाश को ब्रह्म मानकर उसकी उपासना करता है वह ऐसे अतीन्द्रिय और प्रकाशमय लोक में पहुँचता है जहाँ रोग-शोक, दुःख-दारिद्रय का लेश भी नहीं रहता। उसकी सब इच्छाओं की पूर्त्ति होती है।"

नारद ने पूछा—"भगवन्! क्या कोई ऐसा तत्त्व है, जो आकाश से भी बड़ा है।"

"हाँ, एक तत्त्व ऐसा है, जो आकाश से भी बड़ा है।"

"वह क्या है, क्या आप बताने की कृपा करेंगे?"

सनत्कुमार ने कहा—"स्मृति आकाश से भी श्रेष्ठ है। यदि बहुत व्यक्ति हों और उनके संबंध में कोई स्मृति मन में न बनी रहे, तो उनकी कोई बात ही न सुनी जा सकती है न सोची जा सकती है। पर जब उनकी स्मृति मन में बनी रहती है, तो उनकी बात सुनी जा सकती है, उन्हें जाना जा सकता है। स्मृति से ही पिता अपनी संतान को पहचान पाता है और स्मृति से ही पशु पहचाने जा सकते हैं। इसलिये तुम स्मृति की उपासना करो।

"जो व्यक्ति स्मृति को ब्रह्म मानकर उसकी उपासना करता है, वह स्मृति-लोक में पहुँचकर अपनी सभी इच्छाओं को पूरा कर लेता है।"

नारद ने पूछा—"भगवन्! क्या कोई तत्त्व ऐसा भी है जो स्मृति से बड़ा है?"

"हाँ, एक तत्त्व ऐसा है जो स्मृति से बड़ा है।"

"वह क्या है, क्या आप बताने की कृपा करेंगे?"

"आशा स्मृति से भी श्रेष्ठ है। आशा की प्रेरणा से ही स्मृति मंत्रों का उच्चारण कर पाती है, सभी प्रकार के वैदिक कर्मकाण्ड करती है, संतति और पशुओं की आकांक्षा करती है, और विभिन्न लोकों को प्राप्त करने की इच्छा रखती है। इसलिये तुम आशा की उपासना करो।

"जो व्यक्ति आशा को ब्रह्म मानकर उसकी उपासना करता है उसकी सब इच्छाएँ चरितार्थ होती हैं। उसके सब आशीर्वाद फलते हैं।"

नारद ने पूछा—"भगवन्! क्या कोई तत्त्व ऐसा भी है जो आशा से बड़ा है?"

"हाँ, एक तत्त्व ऐसा है जो आशा से बड़ा है।"

"वह क्या है, क्या आप बताने की कृपा करेंगे?"

सनत्कुमार ने कहा—"प्राण आशा से भी श्रेष्ठ है। जिस प्रकार पहिये के सब अरे उसके केन्द्र में स्थित नाभि से जुड़े रहते हैं, उसी प्रकार सभी तत्त्व प्राण से जुड़े रहते हैं। प्राणवायु प्राण-तत्त्व द्वारा संचालित होती है, प्राण-तत्त्व ही प्राण (जीवन) दान करता है; प्राण ही जीवों को जीवित करता है। प्राण ही सबका पिता है, प्राण ही माता है, प्राण ही भाई है, प्राण ही बहन है, प्राण ही गुरु है और प्राण ही ब्राह्मण है।

"इसलिये यदि कोई अपने पिता से या माता से, भाई से, बहन से, गुरु से या ब्राह्मण से कोई अपशब्द कहता है, तो लोग उससे कहते हैं—"तुम्हें धिक्कार है, तुम पितृघाती (पिता की हत्या करनेवाला) हो, तुम मातृघाती हो, भ्रातृघाती हो, बहन की हत्या करनेवाले हो, गुरुहन्ता हो, ब्राह्मण-घाती हो।

"पर जब प्राण उन्हीं व्यक्तियों का साथ छोड़कर चला जाता है, और उनकी मृत्यु हो जाती है, और उनका मृत-शरीर चिता पर रख दिया जाता है, तो उन्हें (अच्छी तरह जलाने के उद्देश्य से) यदि शूल से भी खरोंचा जाता है, तो कोई यह नहीं कहता कि यह व्यक्ति पितृघाती है या मातृघाती है या भ्रातृघाती, गुरुघाती, ब्राह्मणघाती आदि है।

"वास्तव में यह सब प्राण ही है। जो अपने संबं-धियों को इस रूप में देखता है, इस रूप में मानता है और इस रूप में जानता है, तो वह 'अतिवादी' कह-

लाता है। वह किसी के पूछने पर इस बात को नहीं छिपाता कि वह अतिवादी है।"

[४]

नारद ने जब सनत्कुमार का तत्त्वोपदेश यहाँ तक सुन लिया तो उन्हें संतोष हो गया, और इसके बाद उन्होंने फिर कोई प्रश्न नहीं पूछा। पर सनत्कुमार ने यह जानकर कि वह योग्य शिष्य हैं उन्हें और अधिक ज्ञानोपदेश देने का निश्चय किया।

सनत्कुमार ने कहा—"वास्तव में 'अतिवादी' वह है जो सत्य ज्ञान द्वारा प्रेरित होकर विश्वास के साथ यह कह सकता है—'सोऽहम्।' (वह मैं ही हूँ), अर्थात्, अनंत प्राणमय आत्मा जो-कुछ है वही मैं हूँ।"

तब नारद ने कहा—"भगवन्! मैं सत्य ज्ञान की प्राप्ति द्वारा अतिवादी बनना चाहता हूँ।"

सनत्कुमार बोले—"सत्य निश्चय ही जिज्ञासा के योग्य है।"

नारद ने कहा—"मैं निश्चय ही उसकी जिज्ञासा करता हूँ—उसके सम्बन्ध में निश्चित बातें जानना चाहता हूँ।"

सनत्कुमार बोले—जब कोई व्यक्ति सत्य को जान लेता है तभी वह सत्य बोलता है। सत्य न जाननेवाला सत्य नहीं बोल सकता। विज्ञाता (जाननेवाला) ही सत्य को अपनाता है। इसलिये विज्ञान जिज्ञासा के योग्य है।"

नारद ने कहा—"मुझे उसी विज्ञान की जिज्ञासा है।"

सनत्कुमार बोले—"जिसकी मति ज्ञान प्राप्त करने

की ओर होती है वह सत्य को जानता है। जिसकी मति ही इस ओर नहीं है वह सत्य को कैसे जान सकता है! केवल मतिवान ही सत्य को प्राप्त करने की योग्यता रखता है। 'इसलिये मति जिज्ञासा के योग्य है।"

नारद ने कहा—"भगवन्! मुझे उसकी जिज्ञासा है।"

सनत्कुमार बोले—"मति तभी होती है जब श्रद्धा होती है। श्रद्धाहीन व्यक्ति की मति ज्ञान-प्राप्ति की ओर नहीं हो सकती। इसलिये श्रद्धा जिज्ञासा के योग्य है।"

नारद ने कहा—"भगवन्। मैं श्रद्धा की जिज्ञासा रखता हूँ।"

सनत्कुमार बोले—"श्रद्धा तभी होती है जब गुरुजनों के प्रति निष्ठा (भक्तिभाव) रहती है। निष्ठा-रहित व्यक्ति के मन में कभी श्रद्धा उत्पन्न नहीं हो सकती। इसलिये निष्ठा जिज्ञासा के योग्य है।"

नारद ने कहा—"भगवन्! मुझे उसकी जिज्ञासा है।"

सनत्कुमार बोले—"जो व्यक्ति अपनी वासनाओं को शांत रख सकता है वही निष्ठा रख सकता है। उच्छृंखल प्रवृत्तियोंवाला व्यक्ति कभी निष्ठा नहीं कर सकता। शांति ही निष्ठा को उत्पन्न करती है। इसलिये शांति जिज्ञासा के योग्य है।"

नारद ने कहा—"भगवन्! मुझे उस शांति की जिज्ञासा है।"

सनत्कुमार बोले—"जब कोई व्यक्ति सुख का अनुभव करता है तभी उसे शांति मिल सकती है। जिसे सुख प्राप्त नहीं है उसे शांति कैसे मिल सकती है। इसलिये सुख जिज्ञासा के योग्य है।"

नारद ने कहा—"भगवन् ! मुझे उसी सुख की जिज्ञासा है।"

सनत्कुमार बोले—"जो भूमा (असीम और विराट्) है वही सुख है, जो अल्प (ससीम) है वह सुख नहीं हो सकता। भूमा ही सुख है, इसलिये भूमा जिज्ञासा के योग्य है।"

नारद ने कहा—"भगवन् ! मुझे उसकी जिज्ञासा है।"

सनत्कुमार बोले—"जिसे न कोई देख सकता, न सुन सकता है, न जान सकता है, वही 'भूमा' है। जिसे देखा जा सकता है, सुना जा सकता है और जाना जा सकता है, वह 'अल्प' है। भूमा अमृत (अमर) है और अल्प मृत।"

नारद ने पूछा—"भगवन् ! भूमा कहाँ पर या किस पर प्रतिष्ठित है ?"

सनत्कुमार ने उत्तर दिया—"वह स्वयं अपनी महिमा पर ही प्रतिष्ठित है। पर यदि तुम यह प्रश्न करो कि वह महिमा क्या है, तो मुझे कहना पड़ेगा कि वह महिमा पर प्रतिष्ठित नहीं है।

"कारण, संसारी पुरुषों के मन में यह धारणा बनी हुई है कि गाय, घोड़े, हाथी, सोना, दास, पत्नी, बड़ी ज़मींदारी—इन्हीं पर महिमा निर्भर करती है। मेरा आशय इस प्रकार की महिमा से कदापि नहीं है। केवल पूर्णतया स्वतंत्र वस्तु ही एक दूसरे पर प्रतिष्ठित हो सकते हैं। भूमा की वह महिमा पूर्णतया स्वतंत्र और साथ ही कल्पनातीत और अनंत है।

"उसका विस्तार नीचे फैला हुआ है और ऊपर

फैला हुआ है, वह सामने की ओर व्याप्त है और पीछे की ओर भी अपने को फैलाये हुए है। उसका विराट् स्वरूप दक्षिण में फैला हुआ है और उत्तर में भी प्रसारित है। वास्तव में सर्वत्र इसी की व्याप्ति है।

"यह भूमा ही आत्मा है और नीचे, ऊपर, सामने, पीछे, दक्षिण, उत्तर सर्वत्र उसकी महिमा छाई हुई है। जो इस बात को जानता है, आत्मा को इस रूप में देखता है, इस रूप में उस पर विचार करता है और इस रूप में उसे जानता है वह आत्मा में ही रमनेवाला, आत्मा में ही क्रीड़ा करनेवाला, आत्मा में ही आनंद का अनुभव करनेवाला और अपने ही अंतर के विराट् साम्राज्य में शासन करनेवाला सम्राट् (स्वराट्) बन जाता है। सब लोकों में उसकी इच्छाएँ चरितार्थ होती हैं। जो लोग आत्मा के इस भूमा-रूप को स्वीकार नहीं करते वे विनाशशील लोकों में जाते हैं। किसी भी लोक में वे इच्छानुसार कार्य कर सकने की क्षमता नहीं रखते।

"जो व्यक्ति इस आत्मा को अनंत और असीम भूमा-रूप में स्वीकार करते हैं वे जानते हैं कि आत्मा से ही प्राणों का विकास होता है, आत्मा से ही आशा का आविर्भाव होता है, आत्मा से ही स्मृति, आत्मा से ही आकाश, आत्मा से ही तेज, आत्मा से ही जल, आत्मा से ही जन्म-मृत्यु, आत्मा से ही अन्न, आत्मा से ही बल, आत्मा से ही विज्ञान, आत्मा से ही ध्यान, आत्मा से ही चित्त, आत्मा से ही संकल्प, आत्मा से ही मन, आत्मा से ही वाणी, आत्मा से ही काय, आत्मा

से ही मंत्र, आत्मा से ही यज्ञादि कर्म—सब कुछ आत्मा से ही उत्पन्न होते हैं।

"जो व्यक्ति इस सत्य को जानता है उसे न मृत्यु का भय रहता है, न रोग का, न उसे दुःख होता है न शोक। वह सब कुछ देखता है और सब प्रकार से सब कुछ प्राप्त कर लेता है। वह एक होकर भी तीन भागों में बँटकर अपने को विभक्त करता है, पाँच भागों में विभक्त होता है, नौ भागों में विभक्त होता है, फिर ग्यारह भागों में बँटता है, सौ भागों में विकसित होता है, सहस्र भागों में व्यक्त होता है और फिर अपने बीस भाग करता है। वह जितने रूपों में चाहे उतने रूपों में व्यक्त होकर अपना विकास करता रहता है। अपने आहार (अन्न-भोजन) की शुद्धि से उसके स्वभाव की शुद्धि होती है, स्वभाव की शुद्धि से उसकी स्मृति शुद्ध होती है, स्मृति की प्राप्ति से उसके मन की सब प्रकार की गाँठें खुल जाती हैं और वह मोक्ष प्राप्त कर लेता है।"

इस प्रकार भगवान् सनत्कुमार ने नारद को उपदेश देकर उनके मन का समस्त अंधकार दूर कर दिया।

इन्द्र, विरोचन और प्रजापति

एक बार देवों और असुरों ने आपस में मिलकर यह निश्चय किया कि वे प्रजापति (सृष्टि का रचयिता—ब्रह्मा) के पास जाकर उस आत्मा के संबंध में ज्ञान प्राप्त करेंगे, जिसे पाकर समस्त लोक प्राप्त हो जाते हैं और सब इच्छाएँ पूरी हो जाती हैं ।

देवों में इन्द्र और असुरों में विरोचन समित्-काष्ठ (यज्ञ में जलाने की लकड़ी) हाथ में लेकर प्रजापति के पास पहुँचे ।

वे ३२ वर्ष तक ब्रह्मचर्य धारण किये रहे, उसके बाद प्रजापति ने एक दिन उनसे प्रश्न किया—"तुम लोग यहाँ वर्षों से ब्रह्मचर्य धारण किये किस उद्देश्य से बैठे हो ?"

उन्होंने उत्तर दिया—"आपने आत्मा के संबंध में कहा है—'वह पाप-रहित है, अजर है, अमर है, शोक से रहित है ; उसे न भूख लगती है न प्यास, उसके समस्त आचार-विचार और संकल्प सत्य से पूर्ण होते हैं ।

ऐसी आत्मा की खोज करना और उसे जानना चाहिये। जो जिज्ञासा के बाद उसे जान लेता है वह समस्त लोकों को प्राप्त करता है और उसकी सब इच्छाओं की पूर्त्ति होती है।' भगवन्! उसी आत्मा के संबंध में ज्ञान प्राप्त करने के उद्देश्य से हम यहाँ आए हैं।"

प्रजापति ने कहा—"अच्छी बात है। मैं तुम्हें आत्मा के संबंध में उपदेश दूँगा। जो पुरुष आँखों के भीतर दिखाई देता है, वही आत्मा है। (अर्थात् जिस स्वरूप का दर्शन योगी ध्यानावस्थित होकर अपने मन की आँखों के भीतर करते हैं वही आत्मा है।) वही अमर और अभय ब्रह्म है।"

इन्द्र और विरोचन ने प्रजापति के उपदेश के गूढ़ अर्थ को नहीं समझा। उन्होंने समझा कि ब्रह्म एक छाया-मात्रा है जो आँखों में भासमान होती रहती है। उन्होंने प्रश्न किया—"भगवन्! आपने जिस प्रतिबिंब का उल्लेख किया है वह कौन है? जो पानी में दिखाई देता है या जिसके दर्शन दर्पण में होते हैं?"

प्रजापति मुस्कराए और बोले—"जो दोनों में दिखाई देता है। जाओ पानी में अपनी परछाँई देखो, और उसके बाद भी यदि आत्मा को जानने में अपने को असमर्थ समझो तो मुझसे आकर फिर पूछना।"

इन्द्र और विरोचन ने पानी में अपना प्रतिबिंब देखा।

प्रजापति ने पूछा—"तुम लोगों ने क्या देखा?"

उन्होंने उत्तर दिया—"भगवन्! हमने स्वयं अपने

को उसमें देखा, वह हमारा ही प्रतिरूप था—सिर के बालों से लेकर पाँवों के नाखून तक।"

तब प्रजापति ने कहा—"जाओ, अच्छी तरह नहा-धोकर, सुंदर कपड़े पहनकर, मूल्यवान् गहनों से सुसज्जित होकर, बन-ठनकर पानी में फिर एक बार अपनी परछाँई देखो।"

उन लोगों ने वैसा ही किया। सुन्दर वस्त्रों और गहनों से सज्जित होकर पानी में अपना प्रतिबिंब देखा।

उसके बाद प्रजापति ने पूछा—"तुम लोगों ने क्या देखा?"

उन्होंने उत्तर दिया—"भगवन्! हम लोग जिस तरह सुन्दर वस्त्रों और गहनों से सुसज्जित थे, उसी तरह सुसज्जित स्वयं अपना ही प्रतिरूप हमने उसमें देखा।"

प्रजापति ने कहा—"वही आत्मा है, वही अमर और अभय ब्रह्म है।"

इन्द्र और विरोचन प्रजापति का इतना उपदेश सुनकर संतुष्ट हो गये, और उनके मन में यह विश्वास जम गया कि वे ब्रह्म-ज्ञान से परिचित हो गए हैं। दोनों वहाँ से वापस चले गए।

उन्हें जाते हुए देखकर प्रजापति ने अपने मन में कहा—"चूँकि ये दोनों बिना पूर्ण ज्ञान प्राप्त किए चले जा रहे हैं, इसलिये उनका अधूरा ज्ञान देवों और असुरों की हार का कारण बनेगा।"

[२]

विरोचन अधूरे ज्ञान से संतुष्ट होकर जब असुरों के पास पहुँचा, तो उसने उन लोगों को उपदेश दिया—

"आत्मा (अपनापन) ही उपासना के योग्य है। अपने-पन की ही परिचर्या करनी चाहिये। अपनेपन की उपासना और परिचर्या करने से यह लोक और परलोक दोनों प्राप्त होते हैं, अर्थात् दोनों लोकों में सुख मिलता है।"

असुरों ने जब विरोचन का यह उपदेश सुना, तो उन्होंने तब से किसी को दान करना छोड़ दिया, किसी महत् आदर्श पर श्रद्धा करना छोड़ दिया और यज्ञ करना बंद कर दिया। जब उनके यहाँ किसी व्यक्ति की मृत्यु होती है, तो वे उसके मृत शरीर में सुगंधित ओषधियों से लेप करते हैं, जिससे वह अधिक से अधिक समय तक सड़ने न पावे, उसे सुन्दर वस्त्रों और अलंकारों से सुसज्जित करते हैं, और यह सोचते हैं कि इस उपाय से वह मृतात्मा परलोक में सुख भोगेगी।

इधर इन्द्र का यह हाल था कि वह रास्ते-भर प्रजापति के दिए उपदेश पर विचार करता चला जाता था। वह सोच रहा था—जो प्रतिबिंब मैंने जल में देखा वह शरीर के सुसज्जित होने पर स्वयं भी सुसज्जित हो जाता है; शरीर जब सुन्दर वस्त्र या गहनों से अलंकृत रहता है, तो वह भी अलंकृत हो उठता है; शरीर जब निर्मल रहता है, तो वह भी निर्मल हो उठता है; शरीर अंधा होता है, तो वह भी अंधा हो जाता है; शरीर से जब मवाद निकलने लगता है, तो उससे भी मवाद निकलने लगता है; शरीर जब पंगु होता है, तो वह भी पंगु हो जाता है। इसके बाद शरीर का जब विनाश हो जाता है, तो उसका भी निश्चय ही विनाश हो जायगा। ऐसी

नाशशील काया को अमर और अभय आत्मा कैसे मान लिया जाय ?"

सोच-सोचकर उसके मन में भय की भावना उत्पन्न होने लगी। वह देवों के पास वापस नहीं गया। आधे रास्ते से ही हाथ में समित्-काष्ठ लेकर प्रजापति के पास लौट गया।

प्रजापति उसे देखकर मुस्कराए। उन्होंने कहा—"हे मघवन् (इन्द्र)! तुम तो विरोचन के साथ संतुष्ट होकर चले गए थे। अब तुम्हारे लौटकर आने का कारण क्या है? तुम क्या चाहते हो?"

इन्द्र ने कहा—"भगवन्! चूँकि यह प्रतिबिंब, जिसे आपने हमें दिखाया है, शरीर के अलंकृत होने पर स्वयं भी अलंकृत हो जाता है, शरीर जब वस्त्रों से सुसज्जित रहता है, तो यह भी उसी तरह सुसज्जित हो जाता है; शरीर जब निर्मल रहता है, तो यह भी निर्मल दिखाई देता है; शरीर के अंधा रहने पर यह भी अंधा हो जाता है; शरीर से मवाद निकलने पर इससे भी मवाद निकलता है; और जब शरीर का विनाश होता है तो इसका भी विनाश हो जाता है। इसमें मुझे कोई ऐसा महत्व नहीं दिखाई देता, जिसके लिये उसकी उपासना की जाय।"

तब प्रजापति बोले—"मघवन्! तुमने ठीक ही कहा है। बात ऐसी ही है। तुम अभी ३२ वर्ष तक और साधना करो तब मैं तुम्हें आत्म-तत्त्व समझाऊँगा।"

इन्द्र ने प्रजापति की आज्ञा के अनुसार ३२ वर्ष तक और तपस्या की। तब एक दिन प्रजापति ने उसे उपदेश देना आरंभ किया।

प्रजापति ने कहा—"जो स्वप्न में इच्छाओं की पूर्ति होने से संतुष्ट हो उठता है, वही आत्मा है। वह अमर और अभय है। वही ब्रह्म है।"

इन्द्र ने जब ज्ञान प्राप्त किया तो वह संतुष्ट होकर चला गया। रास्ते में उसने सोचा—"स्वप्न में विचरण करनेवाला यह पुरुष शरीर के अंधा होने पर स्वयं अंधा नहीं हो जाता, शरीर के पंगु होने पर स्वयं पंगु नहीं होता, शरीर के विकृत होने पर यह स्वयं विकृत नहीं होता, शरीर के नाश होने पर स्वयं नाश नहीं होता। यह सब ठीक है। पर उसे यह अनुभूति तो होती ही है कि उसका विनाश हो रहा है, उसे खदेड़ा जा रहा है और पीड़ित किया जा रहा है। इस अनुभूति के कारण वह रोता है और बिलखता है। ऐसी स्थिति में उसका विशेष महत्त्व नहीं रह जाता। इसलिये मैं देवताओं के पास इस अधूरे ज्ञान को लेकर कैसे जाऊँ?" सोचकर उसके मन में भय उत्पन्न होने लगा। वह आधे रास्ते से ही फिर प्रजापति के पास लौट चला।

प्रजापति ने उससे कहा—"हे मघवन्! तुम तो संतुष्ट होकर चले गए, अब फिर क्या सोचकर वापस चले आए हो?"

इन्द्र ने कहा—"भगवन्! मैं इतना समझ गया कि शरीर के पंगु और विकृत होने पर भी स्वप्न में विचरण करनेवाला पुरुष स्वयं पंगु और विकृत नहीं होता। शरीर का विनाश होने पर भी उसका विनाश नहीं होता। पर वह यह अनुभव तो करता ही है कि उसे पीटा जा रहा है, खदेड़ा जा रहा है और पीड़ित किया जा रहा है।

वह रोता और विलखता है। इसलिये मैं उसमें कोई विशेष महत्त्व नहीं देखता।"

प्रजापति बोले—"तुमने ठीक ही कहा है, मघवन्! बात ऐसी ही है। मैं फिर तुम्हें आत्म-तत्त्व समझाऊँगा। पहले तुम और ३२ वर्ष तक साधना करो।"

इन्द्र ने प्रजापति की आज्ञानुसार और ३२ वर्ष तपस्या की। उसके बाद एक दिन प्रजापति ने उसे समझाना आरंभ किया। उन्होंने कहा—

"निद्रा की जिस अवस्था में मनुष्य पूर्ण विश्राम करता है, पूर्ण प्रसन्नता में मग्न रहता है, कोई स्वप्न नहीं देखता, उस अवस्था का अनुभव करनेवाला ही आत्मा है। वह अमर और अभय है। वही ब्रह्म है।"

[३]

इन्द्र जब सन्तुष्ट होकर चला गया, तो रास्ते में वह सोचने लगा—"परिपूर्ण निद्रा की अवस्था में जो पुरुष मग्न हो जाता है उसे अपने सम्बन्ध में कोई ज्ञान कैसे रहेगा? और न उसे अपने चारों ओर के प्राणियों और तत्त्वों के अस्तित्व का ही कोई ज्ञान रहेगा। उस समय के लिये वह एक प्रकार से विनष्ट-सा रहेगा। ऐसी स्थिति में उसमें कोई विशेष महत्त्व मुझे नहीं दिखाई देता।"

यह सोचकर वह आधे रास्ते से ही प्रजापति के पास वापस चला गया।

प्रजापति ने जब उसे देखा, तो उन्होंने कहा—"हे मघवन्! तुम तो संतुष्ट होकर चले गए थे, फिर क्या सोचकर वापस आए हो?"

इन्द्र ने कहा—"भगवन्! यह तो मैं समझा कि परिपूर्ण निद्रा की अवस्था में मग्न रहनेवाला पुरुष कोई स्वप्न नहीं देखता और उसे यह अनुभूति नहीं रहती कि उसे सताया जा रहा है। पर इस अवस्था में उस पुरुष को न अपने संबंध में कोई ज्ञान रह जाता है न दूसरों के संबंध में। वह उस समय के लिये एक प्रकार से विनष्ट-सा रहता है। उसमें मुझे कोई विशेष महत्त्व नहीं दिखाई देता।"

प्रजापति ने कहा—"तुमने ठीक ही कहा। बात ऐसी ही है। मैं तुम्हें फिर आत्म-तत्त्व समझाऊँगा। पर पहले तुम ५ वर्ष तक और साधना करो।"

इन्द्र ने प्रजापति की आज्ञानुसार ५ वर्ष तक और तपस्या की। इस प्रकार उसने १०१ वर्ष पूरे किए। इसीलिये यह किंवदन्ती प्रसिद्ध है कि इन्द्र प्रजापति के पास १०१ वर्ष तक ब्रह्मचारी-रूप में रहा।

तब एक दिन प्रजापति ने उससे कहा—"हे मघवन्! यह शरीर मर्त्य और नश्वर है। तथापि यह अमृत और अशरीर आत्मा का निवास-स्थान है। इस प्रकार सशरीर होने के कारण यह आत्मा प्रिय तथा अप्रिय अनुभूति से युक्त है। सशरीर होने पर कोई भी प्रिय और अप्रिय अनुभूतियों से छुटकारा नहीं पा सकता। जो अशरीर होता है वह प्रिय तथा अप्रिय विषयों के संसर्ग में नहीं आता।

"वायु, मेघ, बिजली और वज्र—ये अशरीर हैं। आकाश से महान् ज्योति (सूर्य) द्वारा उत्पन्न होकर वे विभिन्न रूपों में प्रकाशित होते हैं।

"उसी प्रकार मनुष्य अपने शरीर-रूपी आकाश से परम ज्योति द्वारा उत्पन्न होकर अपने वास्तविक स्वरूप को व्यक्त करता है। (अर्थात् जब मनुष्य दिव्य ज्ञान द्वारा यह जान लेता है कि उसकी आत्मा शरीर के बंधन से बँधी हुई नहीं है, तो शरीर के भीतर से उसकी अशरीर आत्मा प्रस्फुटित होती है।) तब वह उत्तम पुरुष कहलाता है। उस अवस्था में खाता है, पीता है, खेलता है, नाना विषयों में रमता है, पर यह सब करते हुए भी शरीर से कोई संबंध नहीं रखता (अर्थात् इन सब विषय कामनाओं में वह लिप्त नहीं रहता।) जिस प्रकार यान आदि के साथ पशु जुड़े रहते हैं, उसी प्रकार शरीर के साथ यह प्राण संयुक्त है (अर्थात् दोनों का एक-दूसरे से कोई मूलगत संबंध नहीं है।)

"कोटर-रूपी आकाश के भीतर आँखें स्थित हैं, और वे आँखें उस पुरुष का दर्शन करने के लिये हैं जो आँखों के भीतर निवास करता है। जो यह जानता है कि 'मैं सूँघता हूँ' वह आत्मा है, 'जो यह जानता है कि 'मैं बोलता हूँ' वह आत्मा है, जो यह जानता है कि 'मैं सुनता हूँ' वह आत्मा है जो यह जानता है कि 'मैं सोचता हूँ' वह आत्मा है। मन ही दिव्य चक्षु है। वह सभी काम्य (इच्छा-योग्य) विषयों की विशेषता का पर्यवेक्षण करता है। मन की उस दिव्य दृष्टि द्वारा आत्मा उन सब विषयों का उपभोग निर्लिप्त होकर करती है।

"देवों ने ब्रह्मलोक में उस आत्मा की उपासना की थी। इसलिये उन्होंने सब लोकों को प्राप्त कर लिया और उनकी सब इच्छाओं की पूर्त्ति हो गई। जो सच्ची जिज्ञासा

के वाद आत्मा का पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लेता है उसकी समस्त इच्छाएँ पूरी हो जाती हैं।"

इस प्रकार प्रजापति ने इन्द्र को आत्म-तत्त्व समझाकर उसको पूर्ण ज्ञान प्राप्त कराया।

ब्रह्म का पलंग

एक बार गांग्य के पुत्र चित्र ने यज्ञ करने का विचार किया। उसने आरुणि को प्रधान पुरोहित के पद पर नियुक्त करने का निश्चय किया। चित्र ने जब आरुणि को बुला लाने के लिये अपना आदमी भेजा, तो आरुणि ने अपने पुत्र श्वेतकेतु से कहा—"वत्स, मेरे बदले तुम जाकर यज्ञ-कार्य समापन कर आओ।"

श्वेतकेतु पिता की आज्ञा मानकर चित्र के पास पहुँचा। चित्र ने उससे प्रश्न किया—"हे गौतम-पुत्र! क्या इस लोक में कोई ऐसा गुप्त स्थान है जिसमें तुम मुझे स्थापित कर सकते हो; या और किसी लोक के किसी विशेष स्थान में मुझे प्रतिष्ठित करने की क्षमता तुम में है?"

श्वेतकेतु ने कहा—"नहीं, मुझमें ऐसी क्षमता नहीं है। मैं अपने पिता से पूछकर आऊँ, तो आपको बताऊँ।"

श्वेतकेतु ऐसा कहकर अपने पिता के पास वापस चला गया और बोला—"पिताजी, चित्र ने मुझसे यह

प्रश्न किया है कि इस लोक या और किसी लोक के किसी गुप्त या विशेष स्थान में उसे प्रतिष्ठित करने की क्षमता मुझमें है या नहीं। मैं इसका क्या उत्तर दूँ?"

उसके पिता ने उत्तर दिया—"वत्स ! मैं स्वयं भी नहीं जानता। चलो, हम दोनों उसके पास चलें और उसीसे इस विषय का ज्ञान प्राप्त करें। सभी लोग हमें ज्ञान सिखाने आए हैं, इसलिये मुझे विश्वास है कि वह भी अस्वीकार नहीं करेगा।"

दोनों उसी क्षण चल पड़े और चित्र के पास जा पहुँचे। श्वेतकेतु के पिता आरुणि ने चित्र से कहा—"हम लोग आपके पास ज्ञान सीखने के लिये आए हैं। हमें ब्रह्मज्ञान सिखाओ।"

चित्र बोला—"हे गौतम ! आपको ज्ञानी होने का अहंकार नहीं है, इसलिये निश्चय ही आप ब्रह्मज्ञान की शिक्षा के योग्य हैं। मैं आपको अवश्य सिखाऊँगा।

"इस लोक से विदा होने के बाद सभी लोग चंद्रलोक में जाते हैं। शुक्ल पक्ष में चंद्रमा उन लोगों की उपस्थिति से प्रसन्न रहता है, पर कृष्ण पक्ष में वह उन्हें नये रूपों में जन्म लेने के लिये वापस भेज देता है, चंद्रमा स्वर्ग का द्वार है। जो व्यक्ति चंद्रलोक में पहुँचने पर भी स्वर्ग की आकांक्षा नहीं करता, उसे वह (चंद्रमा) स्वर्गलोक के परे भेज देता है। पर जो भोग की लालसा से स्वर्ग को स्वीकार कर लेते हैं उन्हें चंद्रमा कुछ समय बाद नये रूपों में जन्म लेने के लिये नीचे बरसा देता है (वापस भेज देता है)। इस लोक में फिर से लौटकर वे स्वर्ग से नीचे गिराए गए पुरुष या

तो कीट, या पतंग, या मछली, या पत्ती, या सिंह, या वराह, या बाघ, या मनुष्य, या किसी अन्य प्राणी के रूप में अपने कर्म तथा संस्कारों के अनुसार जन्म लेते हैं।

"उस फिर से मर्त्यलोक में लौटकर आए हुए पुरुष से जब यह प्रश्न किया जाय कि 'तुम कहाँ से आए?' तो उसे यह उत्तर देना चाहिये—'चंद्रमा-रूपी ऋतु से बीज संग्रह किया गया, उस बीज को (जो कि स्वयं मैं हूँ) देवों ने एक पुरुष के भीतर स्थापित कर दिया और उस पुरुष के बाद एक स्त्री के भीतर उसकी प्रतिष्ठा हुई, और उस स्त्री से मेरी उत्पत्ति हुई। सत्य और असत्य का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने के उद्देश्य से पिता से मेरा संबंध जुड़ा। इसलिये हे देवो! मेरे जीवन की नियत ऋतुओं (वर्षों) को सुरक्षित रहने दीजिए, जिससे मैं अमरत्व के लिये साधना करने में सफल हो सकूँ। अपने सत्य वचनों से, अपनी तपस्या से मैं स्वयं ऋतु (काल) हूँ और साथ ही ऋतु पर निर्भर रहनेवाला भी हूँ।' 'तुम कौन हो?' 'मैं वही हूँ जो तुम हो।' इसके बाद फिर आगे बढ़ना चाहिये। मनुष्य को स्वर्ग की आकांक्षा नहीं करनी चाहिये! क्योंकि वहाँ के क्षणिक भोग के बाद फिर मर्त्यलोक में लौटकर आना पड़ता है। बार-बार जन्म-मरण के चक्र में पड़ना पड़ता है। इसलिये आत्मा की पूर्ण मुक्ति का उद्योग करना ही श्रेयस्कर है।"

आरुणि ने पूछा—"स्वर्ग का मार्ग मनुष्य को कहाँ-कहाँ ले जाता है?"

चित्र ने उत्तर दिया—"देव-पथ में पहुँचकर मनुष्य अग्निलोक में जाता है, वहाँ से वायुलोक में,

वहाँ से वरुण-लोक में, वहाँ से इन्द्रलोक में, वहाँ से प्रजापति के लोक में और वहाँ से ब्रह्मलोक के निकट पहुँचता है। उस ब्रह्मलोक में (काम, क्रोध, मोह, मद आदि) शत्रुओं से भरा एक झील है, वहाँ ऐसे मुहूर्त हैं जो उपासना में विघ्न डालते हैं; अजरा (कभी नष्ट न होनेवाली) जीवन-नदी है; गंधयुक्त इल्य वृक्ष है; सालज्य नगर है (जहाँ विविध प्रकार के भोग्य विषयों का प्रलोभन वर्तमान है) ;(ब्रह्म का) अपराजित (दुर्गम और अभेद्य) भवन है, जिसके फाटक पर प्रजापति और इन्द्र सब समय खड़े रहकर पहरा देते रहते हैं; ब्रह्म का विभु नामक विशाल कक्ष है; विचक्षण नामक सिंहासन है; अवर्णनीय रूप से सुन्दर पलंग है; ब्रह्म की प्रिया (प्रकृति) मन की जन्मदात्री (मानसी) है, उसका प्रतिरूप नेत्रों को जन्म देता है, और वह समस्त लोकों को फूलों की तरह माला के रूप में गूँथती रहती है। ब्रह्म के उस विलास-भवन में जगन्माता अप्सराएँ भी हैं जो अजर और अमर हैं। जब वह मनुष्य उस ब्रह्मलोक के समस्त विघ्नों को पार कर ब्रह्म के भवन के पास पहुँचता है, तो ब्रह्मा उसे देखकर अपने अनुचरों से कहता है—'जाओ, उस व्यक्ति को मेरे पास ले आओ, उसका मेरे समान आदर करो; उसने विजरा (कभी जीर्ण न होनेवाली) नदी पार की है, इसलिये उस पर न कभी जरा (बुढ़ापा) का प्रकोप छावेगा न मृत्यु का।'

"पाँच सौ अप्सराएँ उस व्यक्ति को मिलने के लिये जाती हैं, जिनमें से सौ अप्सराएँ हाथों में फल लिये रहती हैं, सौ सुगंधि लिये रहती हैं, सौ अपने हाथों में

मालाएँ लिये रहती हैं, सौ सुन्दर नये वस्त्र लिये रहती हैं, और सौ सुगंधित चूर्ण लिये रहती हैं। इस प्रकार वे उस व्यक्ति को ब्रह्म के समान ही विभूषित करती हैं। वह ब्रह्म के समान विभूषित होकर, ब्रह्म को जानकर, ब्रह्म की ओर अग्रसर होता है।

"(काम-क्रोध-रूपी) शत्रुओं से भरे झील को वह अपने मन की नाव से पार करता है। जो लोग केवल वर्तमान को ही सब कुछ मानते हैं, वे उस झील में जाकर डूब जाते हैं। उसके बाद वह उपासना को नष्ट करनेवाले मुहूर्तों के पास आता है; वे उस मनस्वी पुरुष को देखते ही भाग जाते हैं। उसके बाद वह विजरा नदी के पास पहुँचता है, और उसे भी अपने मन की नौका से पार कर जाता है। उसके बाद वह अपने सब पापकर्मों और पुण्यकर्मों को उसी तरह फटकारता है जिस प्रकार घोड़ा अपनी अयाल को। उसके पुण्य-कर्म उसके सगे-संबंधियों को प्राप्त होते हैं, और उसके पाप-कर्म उसके शत्रुओं के पास चले जाते हैं। जिस प्रकार रथ को तेज़ी से चलानेवाला व्यक्ति अपने नीचे रथ के दो पहियों को निरंतर घूमता हुआ देखता है (यह देखता है कि रथ के पहिये निरंतर घूम रहे हैं पर वह स्वयं स्थिर रूप से बैठा हुआ है) उसी प्रकार वह व्यक्ति दिन और रात, पाप और पुण्य तथा सभी प्रकार के द्वन्द्वों के चक्र का घूमना देखता है, और स्वयं निर्विकार रहता है। वह समस्त कर्मों के बंधन से मुक्त होकर ब्रह्म की ओर आगे बढ़ा चला जाता है।

"आगे चलकर वह इल्य वृक्ष के पास पहुँचता है,

वहाँ से ब्रह्म की सुगंधि का अनुभव उसे होने लगता है। जब वह सालज्य नगर में पहुँचता है, तो ब्रह्म के रस का अनुभव उसे होने लगता है। वहाँ से जब वह अपराजित भवन में पहुँचता है तो वह ब्रह्म के तेज से परिचित होता है। जब वह भवन के फाटक पर प्रजापति और इन्द्र के पास पहुँचता है, तो वे उसके तेज से भीत होकर उसके सामने से हट जाते हैं। जब वह उस भवन के विभु नामक प्रकोष्ठ में प्रवेश करता है, तो ब्रह्म की महिमा से उसका स्वागत होता है। जब वह ब्रह्म के विचक्षण नामक सिंहासन के पास पहुँचता है तो वह देखता है कि वृहद् और रथंतर नामक सामगान उस सिंहासन के पूर्वपाद (आगे के पाये) हैं, श्यैत और नौधस नामक सामगान उसके पश्चिम-पाद हैं, वैरूप और वैराज नामक साम-मंत्र उसके उत्तरी और दक्षिणी सिरे हैं, शाक्वर और रैवत नामक साम-मंत्र उसके पश्चिमी और पूर्वी सिरे हैं। यह सिंहासन ज्ञान-रूप है। ज्ञान प्राप्त करके वह सब कुछ देखने में समर्थ होता है।

"उसके बाद वह अनुपम सुन्दर पलंग पर पहुँचता है। प्राण ही ब्रह्म का वह अद्भुत पलंग है। भूत और भविष्य उस पलंग के दो अगले पाये हैं, श्री और पृथ्वी पिछले पाये हैं। वृहद् और रथंतर उसकी बड़ी पट्टियाँ हैं और ऋक् और यजु आड़ी पट्टियाँ, चंद्रकिरणें उसका गद्दा है, उद्गीथ (ओङ्कार) उसकी चादर है और श्री तकिया है। उस पर ब्रह्म विराजमान होता है। वह व्यक्ति उस पलंग पर पहला अपना एक पाँव रखता है। ब्रह्म उससे पूछता है—'तुम कौन हो?' उसे इस

प्रकार का उत्तर देना चाहिये—'मैं ऋतु (काल) हूँ, काल में जो-कुछ निहित है वह भी मैं हूँ। मैं आकाश के गर्भ से और ब्रह्म के तेज से उत्पन्न हुआ हूँ। संवत्सर (वर्ष) के बीज से, भूतकाल की विभूति से और जड़ तथा चेतन की आत्मा से तथा पंच तत्त्वों से मेरी सृष्टि हुई है। तुम आत्मा हो, और जो तुम हो वही मैं हूँ।'

"ब्रह्म उससे पूछता है—'मैं कौन हूँ ?' उसे उत्तर देना चाहिये—'तुम सत्य हो।'

" 'सत्य क्या है ?'

" 'इन्द्रियों का संचालन करनेवाले देवता ? (मूल शक्ति) तथा प्राण—इनके अतिरिक्त सत्य और क्या हो सकता है ? इन्द्रियों के देवता तथा प्राण जो-कुछ भी हैं सत्य वही है (स = वह, त्य = वही)। यह सारी सृष्टि वही है। और वह सब तुम हो।'

" 'ब्रह्म उससे पूछता है—'तुम मेरे पुल्लिंग-वाची नाम कैसे प्राप्त करते हो ?' उसे उत्तर देना चाहिये—'प्राण द्वारा।'

" 'नपुंसक जातीय नाम कैसे ग्रहण करते हो ?'

" 'मन द्वारा।'

" 'स्त्रीलिंग-वाची नाम कैसे प्राप्त करते हो ?'

" 'शब्द द्वारा।'

" 'सुगंधि कैसे पाते हो ?'

" 'घ्राण द्वारा।' 'रूप ?' 'चक्षु द्वारा।' 'शब्द ?' 'कर्ण द्वारा।' 'रस ?' 'जीभ द्वारा।' 'कर्म ?' 'हाथ द्वारा।' 'दुःख और सुखों की अनुभूति ?' 'शरीर द्वारा।' 'संतान ?' 'जनन-शक्ति द्वारा।' 'यात्रा ?' 'पाँवों

उपासना

गार्ग्य बालाकि (बलाक का पुत्र) प्रसिद्ध वेदज्ञ था। उसने विभिन्न देशों में भ्रमण किया और उशीनर, मत्स्य, कुरु पांचाल, काशी और विदेह में जाकर कुछ काल के लिये प्रत्येक प्रदेश में प्रवास किया। एक बार वह काशिराज अजातशत्रु के पास गया और बोला—"मैं आपको ब्रह्म के सम्बन्ध में कुछ बातें बताना चाहता हूँ।"

अजातशत्रु उसकी इस तरह की बात सुनकर बहुत प्रसन्न हुआ और बोला—"हे ब्राह्मण ! तुमने ऐसी बात कही है, जिसे सुनकर मेरा चित्त प्रसन्न हो गया। मेरे पास बहुत से लोग आते रहते हैं, और मुझे पूर्ण ब्रह्मज्ञाता जानकर इस बात के लिये तंग करते रहते हैं कि मैं उन्हें ब्रह्म-ज्ञान सिखाऊँ। एक तुम्हीं मेरे पास ऐसे आए हो कि मुझसे कुछ सीखना नहीं चाहते बल्कि मुझे सिखाना चाहते हो। मैं तुम्हें इसी बात पर एक सहस्र गायें प्रदान करता हूँ।"

बालाकि बोला—"मैं उस पुरुष की उपासना करता हूँ जो सूर्य में आत्मा-रूप में विराजमान है।"

अजातशत्रु ने कहा—"इस प्रकार की गर्व-भरी बात न कहो। मैं उसे श्वेत वस्त्र-धारी विराट्-रूप मानकर उसकी उपासना करता हूँ। वह सबसे श्रेष्ठ और सब प्राणियों का सिर है। जो उसकी उपासना इस रूप में करता है वह सबसे श्रेष्ठ और प्राणियों का शीर्ष बन जाता है।"

बालाकि बोला—"मैं उस पुरुष की उपासना करता हूँ जो चन्द्रमा में आत्मा-रूप में विराजमान है।"

अजातशत्रु ने कहा—"इस प्रकार की गर्व-भरी बात न कहो। मैं उसे अन्न की आत्मा मानता हूँ। जो इस रूप में उसकी उपासना करता है, वह स्वयं अन्न की आत्मा बन जाता है।"

बालाकि बोला—"मैं उस पुरुष की उपासना करता हूँ जो बिजली में आत्मा-रूप में विराजमान है।"

अजातशत्रु ने कहा—"इस प्रकार की गर्व-भरी बात न कहो। मैं उसे सत्य की आत्मा मानता हूँ। जो उसकी उपासना इस रूप में करता है वह स्वयं सत्य की आत्मा बन जाता है।"

बालाकि बोला—"मैं उस पुरुष की उपासना करता हूँ जो वज्र में आत्मा-रूप में विराजमान है।"

अजातशत्रु ने कहा—"इस प्रकार की गर्व-भरी बात न कहो। मैं उसे शब्द की आत्मा मानता हूँ। जो इस रूप में उसकी उपासना करता है वह स्वयं शब्द की आत्मा बन जाता है।"

बालाकि बोला—"मैं उस पुरुष की उपासना करता हूँ जो वायु में आत्मा-रूप मे विराजमान है।"

अजातशत्रु ने कहा—"इस प्रकार की गर्व-भरी बात मत कहो। मैं उसे इन्द्र मानता हूँ, जो वैकुण्ठ है (अर्थात् जो किसी भी बात से कुण्ठित नहीं होता), जिसकी सेना अजेय और अपराजित है। जो इस रूप में उसकी उपासना करता है वह विजयी बनता है और कोई उसे नहीं जीत सकता।"

बालाकि बोला—"मैं उस पुरुष की उपासना करता हूँ जो आकाश में आत्मा-रूप में विराजमान है।"

अजातशत्रु ने कहा—"इस प्रकार की गर्व-भरी बात मत कहो। मैं उसे पूर्ण और अप्रवृत्ति (चेष्टा या कामना से रहित) ब्रह्म मानता हूँ। जो इस रूप में उसकी उपासना करता है वह संतति, संपत्ति, यश और ब्रह्म-महिमा से भरपूर रहता है, स्वर्ग प्राप्त करता है, और पूरी आयु का भोग करता है।"

बालाकि बोला—"मैं उस पुरुष की उपासना करता हूँ जो अग्नि में आत्मा-रूप से विराजमान है।"

अजातशत्रु ने कहा—इस प्रकार की गर्व-भरी बात मत कहो। मैं उसे असहनीय रूप से आकर्षक मानता हूँ। जो इस रूप में उसकी उपासना करता है उसका आकर्षण असहनीय रूप से तीव्र हो उठता है।"

बालाकि बोला—"मैं उस पुरुष की उपासना करता हूँ जो जल में आत्मा-रूप में विराजमान है।"

अजातशत्रु ने कहा—"इस प्रकार की गर्व-भरी बात मत कहो। मैं उसे तेज की आत्मा मानता हूँ। जो इस

रूप में उसकी उपासना करता है वह स्वयं तेज-रूप आत्मा बन जाता है।"

बालाकि बोला—"मैं उस पुरुष की उपासना करता हूँ जो दर्पण में आत्मा-रूप में विराजमान है।"

अजातशत्रु ने कहा—"इस प्रकार की गर्व-भरी बात मत कहो। मैं उसे प्रतिरूप (परछाँई) मानता हूँ। जो इस रूप में उसकी उपासना करता है, उसकी संतान उसके सच्चे प्रतिरूप को पाती है।"

बालाकि बोला—"मैं उस पुरुष की उपासना करता हूँ जो छाया में आत्मा-रूप में विराजमान है।"

अजातशत्रु ने कहा—"इस प्रकार की गर्व-भरी बात मत कहो। मैं उसे पुरुष का द्वितीय रूप और कभी अलग न होनेवाला सहचर मानता हूँ। जो इस रूप में उसकी उपासना करता है वह अपने द्वितीय रूप (पत्नी) द्वारा संतान प्राप्त करता है और स्वयं संतान द्वारा द्वितीय बन जाता है।"

बालाकि बोला—"मैं उस पुरुष की उपासना करता हूँ जो प्रतिध्वनि में आत्मा-रूप में विराजमान है।"

अजातशत्रु बोला—"इस प्रकार की गर्व-भरी बात मत कहो। मैं उसे जीवन मानता हूँ। जो इस रूप में उपासना करता है वह अपने नियत समय से पहले जड़ता को प्राप्त नहीं होता।"

बालाकि बोला—"मैं उसकी उपासना करता हूँ जो शब्द में आत्मा-रूप में विराजमान है।"

अजातशत्रु ने कहा—"इस प्रकार की गर्व-भरी बात मत कहो। मैं उसे मृत्यु मानता हूँ। जो इस रूप में

उसकी उपासना करता है वह अपने नियत समय से पहले नहीं मरता।"

बालाकि बोला—"मैं उस सुप्त (सोये हुए) पुरुष की उपासना करता हूँ जो स्वप्न में विचरता रहता है।"

अजातशत्रु ने कहा—"इस प्रकार की गर्व-भरी बात मत कहो। मैं उसे यमराज मानता हूँ। जो इस रूप में उसकी उपासना करता है वह इस संपूर्ण जगत् को अपने उपभोग के लिये अपने वश में रखने में समर्थ होता है।"

बालाकि बोला—"मैं उस पुरुष की उपासना करता हूँ जो शरीर में आत्मा-रूप मे विराजमान है।"

अजातशत्रु ने कहा—"इस प्रकार की गर्व-भरी बात मत कहो। मैं उसे प्रजापति मानता हूँ। जो इस रूप में उसकी उपासना करता है वह संतति, संपत्ति, यश और ब्रह्म-महिमा से भरपूर होता है, स्वर्ग प्राप्त करता है और पूरी आयु का भोग करता है।"

बालाकि बोला—"मैं उस पुरुष की उपासना करता हूँ जो दाहिनी आँख में आत्मा-रूप में विराजमान है।"

अजातशत्रु ने कहा—"इस प्रकार की गर्व-भरी बात मत कहो। मैं उसे वाणी की आत्मा, अग्नि की आत्मा और ज्योति की आत्मा मानता हूँ। जो इस रूप में उसकी उपासना करता है, वह स्वयं इन सबकी आत्मा बन जाता है।"

बालाकि बोला—"मैं उस पुरुष की उपासना करता हूँ जो बाईं आँख में आत्मा-रूप में विराजमान है।"

अजातशत्रु ने कहा—"इस प्रकार की गर्व-भरी बात

मत कहो। मैं उसे सत्य की आत्मा, बिजली की आत्मा और तेज की आत्मा मानता हूँ। जो इस रूप में उसकी उपासना करता है वह स्वयं भी इन सबकी आत्मा बन जाता है।"

बालाकि ने जब अजातशत्रु की इस प्रकार की ज्ञान-भरी बातें सुनीं, तो उसका अहंकार ठंढा पड़ गया। उसे चुप रहते देखकर अजातशत्रु ने कहा—"हे बालाकि! क्या तुम्हारे ज्ञान की सीमा यहीं तक है?"

बालाकि बोला—"हाँ, मेरे ज्ञान की सीमा यहीं तक है।"

अजातशत्रु ने कहा—"अकारण ही अपने ज्ञान पर गर्व करना उचित नहीं है। तुम मुझे ब्रह्मज्ञान बताने आए थे, जबकि तुम्हारा ज्ञान इतना सीमित था। सुनो, मैं तुम्हें ब्रह्म संबंधी ज्ञान बताता हूँ। हे बालाकि! जो इन सब भूतों का कारण है, सम्पूर्ण सृष्टि-चक्र का जो कर्ता है वही पुरुष जानने योग्य है।"

बालाकि ने अजातशत्रु को उसी समय अपना शिक्षक मान लिया और नियमानुसार हाथ में यज्ञकाष्ठ लेकर बोला—"आज से आप मेरे गुरु हुए और मैं शिष्य के रूप में आपकी सेवा करना चाहता हूँ।"

अजातशत्रु ने कहा—"यह प्रकृति के विपरीत ही है कि एक क्षत्रिय किसी ब्राह्मण को शिक्षा दे। फिर भी मैं जितना जानता हूँ तुम्हें अवश्य बताऊँगा।"

यह कहकर अजातशत्रु उसका हाथ पकड़कर उसे लेकर आगे चला। एक स्थान पर उन्हें एक सोया हुआ पुरुष दिखाई दिया। अजातशत्रु ने उस पुरुष को संबो-

धित करते हुए कहा—"हे विशाल ! हे श्वेतवस्त्रधारी सोमराज !"

पर उस पुरुष के कानों तक उसकी बात नहीं पहुँची, और वह सोया ही रहा। तब अजातशत्रु ने अपनी छड़ी से उसे हिलाया और वह पुरुष तत्काल जग उठा।

तब अजातशत्रु ने बालाकि से कहा—"हे बालाकि ! क्या तुम जानते हो कि यह पुरुष इस समय कहाँ सोया हुआ था, कहाँ यह सब क्रिया हुई, और यह कहाँ से लौटकर आया ?"

बालाकि इस प्रश्न का कोई उत्तर नहीं दे सका। अजातशत्रु ने कहा—"हे बालाकि ! हृदय की हिता नाम की नाड़ियाँ हृदय को चारों ओर से छाये रहती हैं। वे उतनी ही सूक्ष्म होती हैं जितना एक बाल एक सहस्र बार चीरे जाने पर होता है। उनमें सफ़ेद, काला, पीला और लाल, इन रंगों के बीज वर्तमान रहते हैं। जब सोया हुआ मनुष्य कोई स्वप्न नहीं देखता तब उस अवस्था में वह उन्हीं पर आराम करता है।

"उसके बाद वह प्राण में मग्न हो जाता है। तब उस प्राण में वाणी नाना नामों के साथ प्रवेश करती है, दृष्टि नाना रूपों के साथ प्रवेश करती है, श्रोत्र नाना शब्दों के साथ प्रवेश करता है और मन नाना विचारों और चिंताओं के साथ प्रवेश करता है।

"जब वह जगता है, तो जिस प्रकार प्रज्वलित अग्नि से चारों ओर चिनगारियाँ छूटने लगती हैं, उसी प्रकार समस्त प्राण बिखरकर अपने-अपने नियत स्थानों को चले जाते हैं, प्राणों से देवगण चले जाते हैं, और देवों

से समस्त लोक चले जाते हैं। यही वास्तविक प्राण है, और यही प्रज्ञा (स्वाभाविक ज्ञान) है। इस शरीर में और शरीर की आत्मा में प्रवेश करने के बाद वह नखों और बालों तक में संचारित हो जाती है।

"जिस प्रकार उस्तरा पेटी में रखा जाता है, और अग्नि अपने स्थान में (दावाग्नि की तरह वन में) निहित रहती है, उसी प्रकार यह आत्मा भी प्राण में निहित रहती है: और इस शरीर में प्रवेश करके बालों और नाखूनों में संचारित होती रहती है। जो छोटी आत्माएँ हैं वे इस बृहत् और मूल आत्मा पर उसी प्रकार निर्भर रहती हैं, जिस प्रकार सारा कुटुंब जीविका के लिये गृह के स्वामी पर निर्भर रहता है। जब तक, इन्द्र इस श्रेष्ठ आत्मा, इस प्रज्ञा से परिचित नहीं रहा तब तक असुरों ने उसे पराजित किया। पर जब वह उसे जान गया, तो वह समस्त देवों और प्राणियों में श्रेष्ठ बन गया और उसे स्वाराज्य और लोकों का आधिपत्य प्राप्त हो गया। जो व्यक्ति इन्द्र की ही तरह समस्त पापों को नष्ट करने के बाद आत्मा के इस ज्ञान से परिचित हो जाता है उसे भी स्वाराज्य और समस्त लोकों का आधिपत्य प्राप्त हो जाता है।"

वर्णों की उत्पत्ति

पहले एकमात्र आत्मा पुरुष-रूप में विराजमान था। उस अद्वितीय पुरुष ने अपने चारों ओर देखा, और अपने सिवा कहीं किसी को नहीं पाया। सबसे पहले उसके मुँह से ये शब्द निकले—"यह मैं हूँ।" इस प्रकार 'मैं'—इस सर्वनाम की उत्पत्ति हुई। यही कारण है कि आज भी जब किसी मनुष्य को पुकारा जाता है तो वह पहले कहता है—"मैं हूँ।" बाद में वह किसी दूसरे का नाम लेता है।

उसे अपने को निपट अकेला पाकर भय मालूम हुआ। इसलिये आज भी जब कोई मनुष्य अकेला होता है, तो उसे भय मालूम होता है। उसने फिर एक बार अपने चारों ओर देखा, और विचार किया—"जब मेरे अतिरिक्त कहीं और कोई भी नहीं है, तब मैं किससे भयभीत होऊँ?" यह सोचकर उसका भय जाता रहा। वास्तव में भय किसी दूसरे से होता है।

भय दूर होने पर भी उसके मन में सुख की भावना

नहीं उत्पन्न हुई। अकेले में किसी प्रकार का सुख कैसे उत्पन्न हो सकता है? उसे किसी दूसरे की आकांक्षा हुई। उस समय तक पति और पत्नी का संयुक्त रूप उसके एक ही रूप में वर्तमान था। उसने अपने उस संयुक्त रूप को दो भागों में विभक्त कर दिया। इस प्रकार पति और पत्नी की उत्पत्ति हुई। अपने को विभक्त करके वह आधा ही रह गया। पर समस्त आकाश उसके नारी-रूप से भर गया। उस आकाश-व्यापी नारी के साथ उसका मिलन हुआ, जिससे मनुष्य आदि प्राणियों की उत्पत्ति हुई।

उस नारी ने सोचा—"जिसने मुझे अपने ही रूप से उत्पन्न किया हो, उसके साथ मेरा सम्मिलन कैसे हो सकता है? मैं अपने को उससे छिपाये रहूँगी।" यह सोचकर उसने अपने को गाय के रूप में परिणत कर दिया। उसे गाय के रूप में बदलते देखकर मूल पुरुष ने अपने को वृषभ के रूप में बदल दिया। उन दोनों के मिलन से गो-जाति की उत्पत्ति हुई।

नारी ने इस प्रकार भी छुटकारा पाते न देखकर घोड़ी का रूप धारण कर लिया। मूल पुरुष ने घोड़ा बन कर उसका साथ दिया। इसी प्रकार वह विभिन्न प्राणियों के रूप धारण करती गई और वह उन्हीं प्राणियों का नर-रूप धारण करता चला गया। इस प्रकार मनुष्य से लेकर चींटी तक सभी प्राणियों के जोड़ों की उत्पत्ति हुई।

उसे यह ज्ञान हुआ—"मैं ही यह सारी सृष्टि हूँ, क्योंकि मैंने ही सब प्राणियों को सिरजा है।"

उसके पहले सब कुछ अव्यक्त था। उसने अपने को नाम और रूप द्वारा व्यक्त किया। उसके बाद उसने देवताओं के विविध कार्यों को संपन्न कराने के उद्देश्य से विविध वर्णों की रचना की। सबसे पहले उसने देवोपासना के उद्देश्य से ब्राह्मणों को उत्पन्न किया। उसके बाद अपनी पूर्ण शक्ति से उसने उन्नत चरित्रवाले क्षत्रों की सृष्टि की। वे सब क्षत्र-देवता—इन्द्र, वरुण, सोम, रुद्र, पर्जन्य, यम, मृत्यु, ईशान आदि—उसकी शक्ति से उत्पन्न हुए। इसलिये क्षत्रों से बढ़कर कोई नहीं है। यही कारण है कि ब्राह्मण क्षत्रियों के अधीन राजसूय यज्ञ में उपासना करते हैं।

उसने अपने को अधिक विस्तृत करने की आकांक्षा से 'विश' लोगों की रचना की। इस जाति के अंतर्गत वसुगण, रुद्रगण, आदित्यगण, विश्वेदेवगण और मरुतगण—ये सभी आ जाते हैं। ये देवगण यज्ञ के लिये संपत्ति और समृद्धि उत्पन्न करने के लिये रचे गए।

उसके बाद उसने शूद्र वर्ण की सृष्टि की, जो पोषण का कार्य करते हैं। यह सारी पृथ्वी ही पूषा (पोषण करनेवाली) है और वह पोषण करनेवाली शूद्र जाति से घनिष्ठ रूप से संबंधित है।

उसके बाद उसने धर्म की सृष्टि की। यह धर्म क्षत्र-जाति का भी क्षत्र (रक्षक) है। धर्म से बढ़कर और कुछ नहीं है। दुर्बल भी धर्म द्वारा बलवान् पर विजय पा लेता है। धर्म सत्य भी है।

इस प्रकार ब्राह्मण, क्षत्र, विट् (विश या वैश्य) और शूद्र—इन चार वर्णों की सृष्टि हुई। देवों के बीच वह अग्नि के रूप में ब्राह्मण था, मनुष्यों में उसने ब्राह्मण के रूप में अपने को व्यक्त किया, क्षत्रियों में क्षत्र-रूप में और वैश्यों में वह वैश्य-रूप में ही व्यक्त हुआ, और शूद्रों में शूद्र-रूप से अपने को प्रकट किया।

यही कारण है कि देवगण अग्नि की उपासना द्वारा ही ब्रह्मलोक की प्राप्ति की आकांक्षा करते हैं। मनुष्यों में ब्राह्मण द्वारा ही इस फल की सिद्धि की जाती है।

वह सबसे पहले एकमात्र आत्मा के रूप में विराजमान था। उसने यह इच्छा प्रकट की—"मुझे एक पत्नी प्राप्त हो, मैं नये रूप में उत्पन्न होऊँ, मुझे बहुत-सा वित्त (संपत्ति) प्राप्त हो, मैं कर्म करूँ।" इच्छा ही सब कुछ प्राप्त कराती है। बिना इच्छा के कुछ प्राप्त नहीं होता। इसीलिये मनुष्य जब अकेला होता है, तो सोचता है—"मुझे एक पत्नी प्राप्त हो, मैं नये रूप में जन्म ग्रहण करूँ, मुझे सम्पत्ति प्राप्त हो और मैं कर्म करूँ।"

वास्तव में मन ही आत्मा है और वाणी उसकी पत्नी है, प्राण उनकी संतान है, चक्षु मनुष्यों की संपत्ति है, क्योंकि चक्षु की सहायता से ही मनुष्य संपत्ति प्राप्त करता है। कर्ण देवताओं की संपत्ति है, क्योंकि कानों से वेदवाणी सुनी जाती है, आत्मा-रूपी शरीर ही कर्म है, क्योंकि उसी की प्रेरणा से कर्म होता है।

याज्ञवल्क्य और एक सहस्र गायें

एक बार विदेहराज जनक ने बहुदक्षिणा नामक यज्ञ का आयोजन किया। उस अवसर पर उनके यहाँ कुरु तथा पंचाल जातियों के अनेक ब्राह्मण उपस्थित थे। राजा जनक के मन में यह जानने की बड़ी प्रबल आकांक्षा थी कि उन ब्राह्मणों में से कौन सबसे श्रेष्ठ वेदज्ञ है। इस उद्देश्य से प्रेरित होकर उसने अपनी शाला में एक सहस्र गायें बाँधकर रख दीं। उन गायों में से प्रत्येक के सींगों में दस पाद सोना बँधवा दिया।

उसके बाद राजा जनक ने उन ब्राह्मणों से कहा— "हे आदरणीय ब्राह्मणो! आप लोगों में से जो सबसे श्रेष्ठ ब्रह्मज्ञाता सिद्ध होगा उसे इन सब गायों को अपने घर ले जाने का अधिकार रहेगा।"

किसी भी ब्राह्मण को अपने को सर्वश्रेष्ठ वेदज्ञ प्रमाणित करके उन गायों पर अपना अधिकार सिद्ध करने का साहस नहीं हुआ। उस यज्ञ में याज्ञवल्क्य भी आए थे। वह बहुत बड़े विद्वान् और वेदज्ञ थे। उन्होंने

अपने एक शिष्य से कहा—"सौम्य ! इन गायों को हमारे घर ले चलो।"

"जैसी आपकी आज्ञा हो, भगवन् !" यह कहकर वह सब गायों को खोलकर ले गया।

दूसरे ब्राह्मणों ने जब यह देखा, तो वे मन-ही-मन क्रुद्ध हो उठे। उन्होंने सोचा—"यह याज्ञवल्क्य अपने को सर्वश्रेष्ठ ब्रह्मज्ञाता समझने की धृष्टता क्या सोचकर करता है ?"

अश्वल नामक एक श्रेष्ठ ब्राह्मण राजा जनक के होता (यज्ञ करानेवाला) थे। उन्होंने याज्ञवल्क्य से कहा—"याज्ञवल्क्य ! तुम क्या वास्तव में अपने को हम सब लोगों से श्रेष्ठ ब्रह्मज्ञानी समझते हो ? हम सर्वश्रेष्ठ ब्रह्मज्ञानी को प्रणाम करना चाहते हैं। पर अभी यह प्रमाणित होना शेष है कि वास्तव में हम सबमें श्रेष्ठ ब्रह्मज्ञ है कौन। यह न समझना कि हम लोग गायों के प्राप्त करने की इच्छा नहीं रखते। इसलिये विवाद द्वारा यह तय हो जाना चाहिये कि तुम ब्रह्म को अच्छी तरह समझ पाए हो या हम। हम लोग तुमसे कुछ प्रश्न करेंगे, तुम्हें उनका उत्तर देना होगा।"

याज्ञवल्क्य ने कहा—"अच्छी बात है, आप लोग प्रश्न करें, मैं उत्तर दूँगा।"

अश्वल ने कहा—"हे याज्ञवल्क्य ! सृष्टि में सब कुछ मृत्यु द्वारा आच्छन्न है। किस उपाय से यज्ञ करनेवाला व्यक्ति मृत्यु के बंधन से मुक्ति पा सकता है ?"

याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—"वाणी द्वारा वह मृत्यु से मुक्ति पाता है। यह वाणी होता (यज्ञ का एक पुरो-

हित) के रूप में साक्षात् अग्नि है। यज्ञ करनेवाले व्यक्ति की वाणी होता ही है, और वह वाणी ही अग्नि है। वह अग्नि ही मुक्ति है, और वह मुक्ति पूर्ण मुक्ति है।"

अश्वल ने कहा—"याज्ञवल्क्य! समस्त सृष्टि में दिन और रात व्याप्त हैं, संपूर्ण विश्व को दिन और रात छाए हुए हैं। यजमान (यज्ञ करनेवाला) किस प्रकार दिन और रात के बंधन से मुक्ति पाता है?"

याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—"वह सूर्य द्वारा मुक्ति पाता है। यह सूर्य चक्षु है और वह यज्ञ के अध्वर्यु नामक पुरोहित के रूप में व्यक्त होता है। यजमान का चक्षु अध्वर्यु ही है। अध्वर्यु ही सूर्य (आदित्य) है, वही मुक्ति है, वही परिपूर्ण मुक्ति है।"

अश्वल ने कहा—"हे याज्ञवल्क्य! समस्त सृष्टि में शुक्ल पक्ष और कृष्ण पक्ष व्याप्त हैं, सभी विश्व को ये दो पक्ष छाये हुए हैं। यजमान किस उपाय से इन दो पक्षों से होनेवाले परिवर्तन के बंधन से मुक्ति पा सकता है?"

याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—"प्राण द्वारा इस बंधन से मुक्ति पाई जा सकती है। यह प्राण ही उद्गाता नामक ऋत्विक (पुरोहित) के रूप में वायु है। यजमान का प्राण उद्गाता ही है। वह प्राण वायु ही है, वह वायु है उद्गाता, उद्गाता ही मुक्ति है और मुक्ति ही परिपूर्ण मुक्ति है।"

अश्वल ने कहा—"हे याज्ञवल्क्य! यह अन्तरिक्ष (पृथ्वी और आकाश के बीच का शून्य स्थान) आधार-रहित है। तब किस आधार से मनुष्य स्वर्ग में पहुँच पाता है?"

याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—"मन के आधार से मनुष्य स्वर्ग में पहुँचता है। यह मन ही ब्रह्मा नामक ऋत्विक् के रूप में चंद्रमा है। यजमान का मन यही ब्रह्मा नामक पुरोहित है। चंद्रमा ही मन है, मन ब्रह्मा है, ब्रह्मा मुक्ति है और वह मुक्ति परिपूर्ण मुक्ति है।" *

अश्वल ने कहा—"हे याज्ञवल्क्य ! ऋग्वेद के कितने मंत्र-समूहों द्वारा होता यज्ञ करता है ?"

याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—"तीन मंत्र-समूहों द्वारा। इन तीनों में से पहले वे मंत्र हैं जो यज्ञ के पहले उच्चारित किये जाते हैं, दूसरे वे हैं जो यज्ञ के समय उच्चारित किये जाते हैं, तीसरे वे हैं जो यज्ञ के बाद उच्चारित किये जाते हैं।"

"इन मंत्रों द्वारा वह किसे जीतता है ?"

"जो कुछ भी प्राण से संबंधित है उसे।"

अश्वल ने फिर पूछा—"याज्ञवल्क्य ! अध्वर्यु यज्ञ में कितने प्रकार की आहुतियाँ देता है ?"

याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—"तीन प्रकार की।"

"ये तीन कौन-कौन हैं ?"

"जो आहुतियाँ प्रज्वलित होती हैं वे ; जो चटचटाती हैं वे और जो नीचे गिरकर रह जाती हैं वे।"

"उन आहुतियों द्वारा वह किस पर विजय पाता है।"

"प्रज्वलित होनेवाली आहुतियों द्वारा वह देवलोक

---

* यज्ञ के चार प्रमुख पुरोहित होते हैं—होता, उद्गाता, अध्वर्यु और ब्रह्मा।

पर विजय प्राप्त करता है, क्योंकि देवलोक प्रज्वलित (दीप्त) होनेवाला लोक है ; चटचटानेवाली आहुतियों द्वारा वह पितृलोक पर विजय प्राप्त करता है, क्योंकि पितृलोक शब्द करनेवाला (कोलाहलपूर्ण) लोक है ; जो आहुतियाँ नीचे गिरकर रह जाती हैं उनके द्वारा वह मनुष्य-लोक पर विजय प्राप्त करता है, क्योंकि मनुष्य-लोक नीचे ही है।*

अश्वल ने पूछा—"हे याज्ञवल्क्य ! यह जो ब्रह्म (पुरोहित-विशेष) दाहिनी ओर बैठा है, वह कितने देवताओं द्वारा यज्ञ की रक्षा करता है ?"

याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—"एक देवता द्वारा ?"

"वह देवता कौन है ?"

"मन ही वह देवता है। मन अनंत है, (अर्थात् उसकी चिंता-धाराएँ अनंत हैं)। मन द्वारा वह अनंत विश्व पर विजय प्राप्त करता है।"

अश्वल ने पूछा—"याज्ञवल्क्य ! उद्गाता यज्ञ में कितने प्रकार के स्तोत्र गाता है ?"

याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—"तीन प्रकार के।"

"वे तीन कौन-कौन हैं ?"

"जो यज्ञ के पहले उच्चारित किये जाते हैं वे ; जो यज्ञ कराते समय उच्चारित किये जाते हैं वे ; और जो यज्ञ के बाद स्तुति के उद्देश्य से उच्चारित किये जाते हैं वे।"

---

* प्रज्वलित होनेवाली आहुतियाँ घी की होती हैं, चटचट शब्द करनेवाली आहुतियाँ मांस की होती हैं और नीचे गिरने-वाली आहुतियाँ दूध या सोम-रस की होती हैं।

"इन तीनों के आत्मा से क्या-क्या संबंध हैं ?"

"जो पहले उच्चारित किये जाते हैं वे आगे की ओर चलनेवाले प्राणवायु (श्वास-प्रश्वास) से संबंधित हैं ; जो बीच में उच्चारित किये जाते हैं वे नीचे की ओर चलनेवाले अपान वायु से संबंधित हैं और जो बाद में स्तुति के रूप में उच्चारित किये जाते हैं वे दोनों में सामंजस्य लानेवाले व्यान वायु से संबंध रखते हैं।"

"उनके द्वारा वह किन पर विजय पाता है ?"

"पहले उच्चारित किये जानेवाले मंत्रों द्वारा वह मनुष्य-लोक पर विजय पाता है ; यज्ञ के निमित्त उच्चारित किये गये मंत्रों द्वारा वह अन्तरिक्ष पर विजय पाता है ; और स्तुति के अर्थ उच्चारित किये जानेवाले मंत्रों द्वारा वह स्वर्ग लोक पर विजय प्राप्त करता है।"

इस प्रकार याज्ञवल्क्य ने अश्वल को यह समझा दिया कि जो मृत्यु दिन और रात के काल-चक्र तथा वैदिक क्रिया-कर्मों के बंधनरूप में विश्व में छाई हुई है उससे पूर्ण मुक्ति कैसे प्राप्त हो सकती है।

[२]

अश्वल के बाद जरत्कारु-वंशज आर्तभाग ने याज्ञवल्क्य से प्रश्न किया—"कितने ग्रह (बंधन) हैं और कितने अतिग्रह (सहायक बंधन) ?"

याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—"आठ ग्रह हैं और आठ अतिग्रह।"

"वे कौन-कौन-से हैं ?"

"प्राण एक बंधन (ग्रह) है। उसका सहायक बंधन अपान वायु है। अपान वायु सूँघने में सहायता

पहुँचाती है। वाणी भी एक बंधन है। नाम उसका सहायक बंधन है, क्योंकि वाणी द्वारा ही नाम उच्चारित किया जाता है।

"जिह्वा एक बंधन है। रस द्वारा उसे सहायता पहुँचती है (अर्थात् वह रस द्वारा सुदृढ़ होता है।) जिह्वा द्वारा ही सब प्रकार के रस अनुभूत होते हैं।

"चक्षु एक बंधन है। रूप द्वारा वह सुदृढ़ होता है। चक्षु से ही नाना रूपों के दर्शन होते हैं।

"कर्ण एक बंधन है। शब्द द्वारा और सुदृढ़ होता है। कर्ण से ही शब्द सुनायी देते हैं।

"मन एक बंधन है। कामना द्वारा वह सुदृढ़ होता है। मन ही कामनाएँ करता है।

"हाथ एक बंधन है। कर्म द्वारा वह सुदृढ़ होता है। हाथ से कर्म किये जाते हैं।

"त्वचा एक बंधन है। स्पर्श द्वारा वह सुदृढ़ होता है। त्वचा द्वारा ही विभिन्न प्रकार की स्पर्शानुभूतियाँ होती हैं। ये ही आठ ग्रह और आठ अतिग्रह हैं।"

आर्तभाग ने कहा—"याज्ञवल्क्य! सृष्टि में जो कुछ दीखता है वह सब मृत्यु का भोजन है। ऐसा भी कोई देवता है, जिसका भोजन स्वयं मृत्यु ही हो?"

याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—"अग्नि ही मृत्यु है, और अग्नि जल का भोजन है (अर्थात् जल अग्नि को शांत कर देता है), इस कारण जल ही वह देवता है जिसका भोजन मृत्यु है। जल द्वारा ही मृत्यु पर विजय प्राप्त की जा सकती है।"

आर्तभाग ने कहा—"याज्ञवल्क्य! जब ब्रह्मज्ञानी

पुरुष मृत्यु को प्राप्त होता है तब क्या उसकी इंद्रियाँ उससे बिछुड़ जाती हैं ?"

याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—"नहीं, किसी भी हालत में नहीं। वे इन्द्रियाँ एकत्रित होकर उस ब्रह्मज्ञानी पुरुष में (अर्थात् ब्रह्म में) ही विलीन हो जाती हैं। वास्तव में उसके लिये मृत्यु कोई अर्थ नहीं रखती। बंधन नष्ट हो जाने पर मृत्यु में ही वह मुक्ति पाता है।"

आर्तभाग ने कहा—"याज्ञवल्क्य ! जब पुरुष की मृत्यु होती है, तो कौन ऐसी वस्तु है जो उसे नहीं छोड़ती ?"

याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—"नाम। नाम अनंत है। नाम से वह अनंत लोकों पर विजय पाता है।"

आर्तभाग ने कहा—याज्ञवल्क्य ! जब साधारण पुरुष (अर्थात् वह पुरुष जो ज्ञान द्वारा ब्रह्म को प्राप्त नहीं हुआ है) मृत अवस्था को प्राप्त होता है, और वह (जलाये जाने के बाद) अग्नि में मिल जाता है, उसके चक्षु सूर्य में मिल जाते हैं, मन चन्द्रमा में मिल जाता है, शरीर पृथ्वी में मिल जाता है, प्राण आकाश में विलीन हो जाता है, बाल तृणों के साथ एकरूप हो जाते हैं, रक्त जल में मिल जाता है, तब उस अवस्था में वह पुरुष कहाँ और कैसे स्थित रहता है ?"

याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—"आर्तभाग ! इस प्रश्न का उत्तर इतने लोगों की भीड़ के बीच में नहीं दिया जा सकता। मेरे साथ किसी एकांत स्थान में चलो; वहाँ मैं तुम्हारे इस प्रश्न का उत्तर दूँगा।"

ऐसा कहकर याज्ञवल्क्य आर्तभाग का हाथ पकड़

कर उसे एक एकांत स्थान में ले गए। वहाँ उन दोनों ने जो कुछ कहा वह कर्म था, जिस किसी भी देवता की स्तुति की वह भी कर्म ही था। आर्तभाग समझ गया कि कर्म के आधार पर ही मृत पुरुष स्थित रहता है। पाप कर्म उसे हीन लोक में ले जाते हैं और पुण्य कर्म उसे पुण्य लोक में ले जाते हैं। कर्मों के अनुसार ही वह फिर से जन्म ग्रहण करता है। वह यह जान गया कि इन्द्रियाँ और इन्द्रिय भोग्य विषय मृत्यु के बंधन को सुदृढ़ करते हैं। जब तक उनके बंधन को नहीं तोड़ा जाता तब तक पूर्ण मुक्ति नहीं मिल सकती। यह बात समझ में आने पर आर्तभाग शांत हो गया।

[३]

उसके बाद लाह्यवंश में उत्पन्न भुज्यु ने याज्ञवल्क्य से कहा—"याज्ञवल्क्य! एक बार ऐसा हुआ कि मैं और मेरे कुछ साथी वेदों के अध्ययन के लिये मद्र देश (मद्रास) गए हुए थे। उस अपरिचित देश में भटकते हुए हम लोग पतंचल काप्य (कपि-वंशज) के यहाँ पहुँचे। वहाँ हमने देखा कि उसकी लड़की को किसी गंधर्व की आत्मा ने ग्रस रखा है। उस गंधर्व से हमने प्रश्न किया-'तुम कौन हो?' उसने उत्तर दिया—'मैं आंगिरस-वंश में उत्पन्न सुधन्वा नामक गंधर्व हूँ।' तब मैंने उससे कहा—'यदि तुम वास्तव में गंधर्व हो तो तुम्हें इस लोक के परे बहुत-से लोकों का ज्ञान होना चाहिये। इसलिये बताओ कि पारिक्षित लोग कहाँ हैं?' हे याज्ञवल्क्य! अब मैं तुमसे भी वही प्रश्न करना चाहता हूँ—'पारिक्षित लोग कहाँ हैं?"

आर्तभाग यह जताना चाहता था कि उसे गंधर्व द्वारा ज्ञान प्राप्त हुआ है, जबकि याज्ञवल्क्य ने मनुष्य द्वारा ही ज्ञान प्राप्त किया है। इस बात से वह अपने को याज्ञवल्क्य से श्रेष्ठ ज्ञानी सिद्ध करना चाहता था। पर उसे इस बात का पता नहीं था कि याज्ञवल्क्य अपनी अंतर्दृष्टि और दिव्य ज्ञान के फलस्वरूप यह मालूम कर सकते हैं कि गंधर्व ने क्या उत्तर दिया होगा।

याज्ञवल्क्य ने कहा—"मैं जानता हूँ कि गंधर्व ने क्या उत्तर दिया होगा। गंधर्व ने निश्चय ही यह कहा होगा कि पारिक्षित लोग उस लोक में पहुँचे हुए हैं जहाँ अश्वमेध यज्ञ के कर्त्ता पहुँचते हैं।"

भुज्यु ने पूछा—"अश्वमेध यज्ञ के कर्त्ता कहाँ पहुँचते हैं, क्या तुम बता सकते हो?"

याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—"सूर्य जहाँ से उदय होता है और जहाँ अस्त होता है उतना क्षेत्र सूर्य के रथ की ३२ दिन की यात्रा में तय हो जाता है। पृथ्वी का विस्तार उससे दुगना है। सागर का विस्तार पृथ्वी से दुगना है। पृथ्वी और सागर के बीच केवल उस्तरे की धार या मक्खी के पंख बराबर व्यवधान है। इन्द्र ने बाज (सुपर्ण) पक्षी का रूप धारण करके पारिक्षितों को वायु में बिखेर दिया। वायु उन्हें उस लोक में ले गया जहाँ अश्वमेध यज्ञ के कर्त्तागण रहते हैं। इस उपाय से गंधर्व ने वायु की प्रशंसा की। इसलिये वायु ही व्यष्टि (इकाई) तथा वायु ही समष्टि (समूह) है। जो व्यक्ति यह जान लेता है वह मृत्यु पर विजय पाता है।" यह कहकर याज्ञवल्क्य ने यह सिद्ध कर दिया कि लौकिक

क्रियाकर्म (यज्ञादि) द्वारा पूर्ण मुक्ति प्राप्त नहीं हो सकती। लाह्यवंशोत्पन्न भुज्यु यह सुनकर चुप हो गया।

[४]

उसके बाद उपस्त चाक्रायण ने कहा—"याज्ञवल्क्य, मुझे उस ब्रह्म के विषय में समझाओ जो साक्षात् और प्रत्यक्ष है, और जो समस्त प्राणियों के अंतर में व्याप्त रहनेवाली आत्मा है।"

याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—"तुम्हारी आत्मा ही समस्त प्राणियों के अंतर में व्याप्त है।"

"मेरी आत्मा कौन है?"

"जो प्राणवायु द्वारा श्वास ग्रहण करती है वही तुम्हारी आत्मा है और वही आत्मा समस्त प्राणियों के अंतर में व्याप्त है; जो अपान वायु द्वारा नीचे की ओर जाती है वही तुम्हारी आत्मा है, और वही समस्त प्राणियों के अंतर में है; जो सर्वत्र गमन करनेवाले व्यान वायु द्वारा सर्वत्र गमन करती है, वही तुम्हारी आत्मा है, और वही समस्त प्राणियों के अंतर में है; जो उदान वायु द्वारा ऊपर चढ़ती है वही तुम्हारी आत्मा है, और वही समस्त प्राणियों के अंतर में स्थित है।

उपस्त चाक्रायण ने कहा—"तुमने ब्रह्म (आत्मा) की जो व्याख्या की है वह ऐसी ही है जैसे किसी से यह पूछा जाय कि गाय या घोड़े की परिभाषा बताओ और वह उत्तर के रूप में किसी गाय या घोड़े को दिखा दे। यह कोई परिभाषा नहीं हुई। मुझे अच्छी तरह, युक्ति-पूर्ण परिभाषा द्वारा समझाओ कि साक्षी और प्रत्यक्ष ब्रह्म—वह आत्मा जो सबके भीतर वर्तमान है, कौन है और क्या है?"

याज्ञवल्क्य ने फिर वही उत्तर दिया—"स्वयं तुम्हारी ही आत्मा सबके भीतर वर्तमान है।"

"सबके भीतर वर्तमान रहनेवाली इस आत्मा का स्वरूप क्या है?"

याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—"तुम दृष्टि के द्रष्टा को नहीं देख सकते, श्रुति के श्रोता (सुननेवाले) को सुन नहीं सकते; मति के मन्ता (मनन करनेवाला) के सम्बन्ध में मनन नहीं कर सकते; और विज्ञाति के विज्ञाता (जाननेवाले) को जान नहीं सकते। तुम्हारी आत्मा का रूप है और वह सबके अंतर में वर्तमान है। जो कुछ भी उससे भिन्न है वह असत् है।"

उषस्ति चाक्रायण यह उत्तर सुनकर चुप हो गया।

[५]

उसके बाद कहोल कौषीतकेय ने याज्ञवल्क्य से प्रश्न किया। उसने कहा—"याज्ञवल्क्य, तुम मुझे भी समझाओ कि साक्षात् और प्रत्यक्ष ब्रह्म क्या है—वह आत्मा क्या है जो सब प्राणियों के भीतर वर्तमान है।"

याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—"स्वयं तुम्हारी ही आत्मा सबके भीतर वर्तमान है।"

"इस आत्मा का स्वरूप क्या है?"

"यह वह आत्मा है जो भूख-प्यास, शोक-मोह, जरा (बुढ़ापा) और मृत्यु पर विजय प्राप्त करती है। जो ब्राह्मण (ब्रह्मज्ञानी) इस आत्मा के स्वरूप को जान लेते हैं तब वे पुत्र-कामना (पुत्रैषणा), धन प्राप्त करने की इच्छा (वित्तैषणा) और उत्तम लोक (स्वर्ग आदि) प्राप्त करने की आकांक्षा (लोकैषणा) को त्यागकर भिक्षा-

वृत्ति ग्रहण करके संन्यासी का जीवन बिताने लगते हैं। पुत्र-प्राप्त करने की इच्छा से धन प्राप्त करने की इच्छा उत्पन्न होती है, और धन प्राप्त करने की इच्छा से लोकों को प्राप्त करने की आकांक्षा उत्पन्न होती है। इसलिये ब्राह्मण (ब्रह्मज्ञानी) को चाहिये कि वह पांडित्य प्राप्त करके अपने को बल द्वारा प्रतिष्ठित करे। पांडित्य और बल प्राप्त करके मुनि (मनन करनेवाला पंडित) अमौन तथा मौन (अविद्या और विद्या अथवा कर्म या ज्ञान) का भेद जान लेता है और तभी वह सच्चा ब्राह्मण बनता है।

कहोल ने पूछा—"ब्राह्मण को किस प्रकार के कर्म करने चाहिये ?"

याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—"वह किसी प्रकार का भी कर्म करे, कोई अंतर नहीं पड़ेगा। ब्रह्म का वास्तविक ज्ञान प्राप्त होने पर कोई भी कर्म उसे बंधन में नहीं डाल सकता। इस ज्ञान की स्थिति के अतिरिक्त दूसरी कोई भी स्थिति विनाशशील है।"

यह सुनकर कहोल कौषीतकेय चुप हो गया।

[६]

उसके बाद गार्गी वाचक्नवी (वचक्नु की पुत्री) ने प्रश्न किया। उसने कहा—"याज्ञवल्क्य ! यह समस्त पृथ्वी जल से ओतप्रोत (घिरी हुई या छाई हुई) है, यह तो मानी हुई बात है। अब यह बताओ कि यह जल किससे ओतप्रोत है ?"

याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—"हे गार्गी, जल, वायु से ओतप्रोत है।"

"वायु किससे ओतप्रोत है ?"

"अन्तरिक्ष (पृथ्वी और आकाश के बीचवाले) लोक से।"

"अन्तरिक्ष लोक किससे ओतप्रोत है ?"

"गंधर्व लोक से।"

"गंधर्व लोक किससे ओतप्रोत है ?"

"आदित्य-लोक से।"

"आदित्य-लोक किससे ओतप्रोत है ?"

"चंद्र-लोक से।"

"और चंद्र-लोक किससे ओतप्रोत है ?"

"नक्षत्र-लोक से।"

"और नक्षत्र-लोक किससे ओतप्रोत है ?"

"देव-लोक से।"

"और देव-लोक किससे ओतप्रोत है ?"

"इन्द्र-लोक से।"

"और इन्द्र-लोक किससे ओतप्रोत है ?"

"प्रजापति-लोक से।"

"और प्रजापति-लोक किससे ओतप्रोत है ?"

"ब्रह्म-लोक से।"

"और ब्रह्म-लोक किससे ओतप्रोत है ?"

याज्ञवल्क्य ने कहा—"गार्गी, अनुचित प्रश्न न करो, नहीं तो तुम्हारा सिर नीचे गिर जावेगा। इस प्रकार के गहन विषय को तर्क द्वारा सिद्ध नहीं किया जा सकता। ब्रह्म तर्क के परे है। इसलिये हे गार्गी, तुम्हें इसके आगे प्रश्न नहीं करना चाहिये।"

गार्गी यह सुनकर चुप हो गई।

[७]

उसके बाद उद्दालक आरुणि (अरुण के पुत्र) ने

कहा—"याज्ञवल्क्य ! मैं और मेरे सहशिक्षार्थी मद्रदेश में पतंचल काप्य (कपि-वंशज) के यहाँ यज्ञ-विषयक शिक्षा प्राप्त किया करते थे। एक वार हमारे गुरु (पतंचल) की पत्नी को एक गंधर्व की आत्मा ने धर दबाया। हम लोगों ने उस गंधर्व से पूछा—'तुम कौन हो ?' उसने उत्तर दिया—'मैं अथर्वण का पुत्र कवंध हूँ।' उसके वाद उस गंधर्व ने पतंचल काप्य से पूछा—'हे काप्य ! तुम क्या उस यज्ञ-सूत्र से परिचित हो जिससे यह लोक, परलोक तथा समस्त प्राणी एक साथ वँधे हुए हैं ?'

"पतंचल ने उत्तर दिया—'भगवन् ! मैं उससे परिचित नहीं हूँ।' उसने फिर पतंचल से तथा हम लोगों से भी पूछा—'क्या तुम लोग उस अंतर्यामी को जानते हो जो सबके भीतर रहकर इस लोक पर, परलोक पर तथा समस्त प्राणियों पर शासन करता है ?'

"पतंचल ने (और हम लोगों ने भी) उत्तर दिया—'नहीं भगवन् ! हम उसे नहीं जानते।' तव उस गंधर्व ने कहा—'हे पतंचल ! जो उस यज्ञ-सूत्र को और अंतर्यामी को जानता है वह ब्रह्म को भी जानता है, उसे लोकों का भी ज्ञान रहता है, वह देवों, वेदों, तत्त्वों और आत्मा के रहस्य से परिचित हो जाता है।'

"उसके वाद उस गंधर्व ने यज्ञ-सूत्र और अंतर्यामी के संवंध में सब वातें बताईं। चूँकि मैं भी वहाँ उपस्थित था, इसलिये मैं भी उस ज्ञान से परिचित हो गया हूँ। इसलिये हे याज्ञवल्क्य ! मैं तुम्हारी भी परीक्षा लेना चाहता हूँ। यदि तुमने उस यज्ञ-सूत्र और अंतर्यामी के ज्ञान से परिचित हुए बिना ही उन एक सहस्र ब्रह्म-

गायों को (ब्रह्म के सर्वोत्तम ज्ञानयुक्त व्यक्ति के लिये सुरक्षित गायों को) अपने घर भेज दिया हो, तो तुम्हारा सिर निश्चय ही धड़ से अलग हो जावेगा। प्रत्येक व्यक्ति अपने को श्रेष्ठ पंडित समझकर यह कहा करता है कि 'मैं जानता हूँ, मैं जानता हूँ।' पर किस रूप में तुम उसे जानते हो, यह बात तर्क और प्रमाण-सहित समझाओ।"

याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—"हे गौतम, वायु ही वह सूत्र (डोर) है, वायु ही सूत्र की तरह इस लोक को, परलोक को और समस्त प्राणियों में अपने में पिरोये हुए है। इसीलिये हे गौतम, जब कोई मनुष्य मरता है तो उसके संबंध में यह कहा जाता है कि उसके सब अंग ढीले पड़ गए हैं : क्योंकि जीवन-काल में उसके जो अंग वायु रूपी सूत्र द्वारा बँधे थे वे मृत्यु-काल में वायु के अलग हो जाने पर ढीले पड़ जाते हैं।"

उद्दालक बोला—"याज्ञवल्क्य, इतनी बात तो तुमने ठीक ही बताई है। अब अंतर्यामी का रहस्य समझाओ।"

याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—"जो पृथ्वी के ऊपर रहने पर भी पृथ्वी के भीतर स्थित है, जिसके अंत-स्थित रहने पर भी पृथ्वी अपरिचित रहती है, जिसका शरीर ही पृथ्वी है, जो भीतर से समस्त पृथ्वी पर शासन करता है, वह तुम्हारी आत्मा है, वह अंतर्यामी है, वह अमृत (अमर) है।

"जो जल के ऊपर स्थित रहने पर, जल के भीतर निहित रहता है, जिसके अस्तित्व से जल स्वयं परिचित

नहीं रहता, जिसका शरीर जल ही है, जो भीतर से जल पर शासन करता है, वह तुम्हारी आत्मा है, वही अंतर्यामी है, वह अमृत है।

"जो अग्नि के ऊपर (अग्नि के बाह्य रूप में) स्थित रहने पर भी उसके भीतर निहित रहता है, जिसके अस्तित्व से अग्नि स्वयं परिचित नहीं रहती, जिसका शरीर अग्नि ही है, जो भीतर से अग्नि पर शासन करता है, वह तुम्हारी आत्मा है, वही अंतर्यामी है, वह अमृत है।

"जो अंतरिक्ष के ऊपर स्थित रहकर उसके भीतर निहित रहता है, जिसके अस्तित्व से स्वयं अंतरिक्ष परिचित नहीं रहता, जिसका शरीर अंतरिक्ष ही है, जो भीतर से अंतरिक्ष पर शासन करता है, वह तुम्हारी आत्मा है, वही अंतर्यामी है, वह अमृत है।

"जो वायु पर स्थित रहकर उसके भीतर भी निहित रहता है, जिसके अस्तित्व से स्वयं वायु परिचित नहीं रहता, जिसका शरीर वायु ही है, जो भीतर से वायु पर शासन करता है, वही तुम्हारी आत्मा है, वही अंतर्यामी है, वह अमृत है।

"जो स्वर्ग पर स्थित रहकर भीतर भी निहित रहता है, जिसके अस्तित्व से स्वयं स्वर्ग परिचित नहीं रहता, जिसका शरीर स्वर्ग ही है, जो भीतर से स्वर्ग पर शासन करता है, वह तुम्हारी आत्मा है, वही अंतर्यामी है, वह अमृत है।

"जो सूर्य पर स्थित रहकर उसके भीतर भी निहित रहता है, जिसके अस्तित्व से स्वयं सूर्य परिचित

नहीं रहता, जिसका शरीर सूर्य ही है, जो भीतर से स्वर्ग पर शासन करता है, वह तुम्हारी ही आत्मा है, वही अंतर्यामी है, वह अमृत है।

"जो दिशाओं पर स्थित है और उनके भीतर भी निहित है, जिसके अस्तित्व से स्वयं दिशाएँ परिचित नहीं रहतीं; जिसका शरीर दिशाएँ ही हैं, जो भीतर से दिशाओं पर शासन करता है, वह तुम्हारी ही आत्मा है, वही अंतर्यामी है, वह अमृत है।

"जो चंद्रमा और नक्षत्रों पर स्थित है और उनके भीतर भी निहित है, जिसके अस्तित्व से स्वयं चाँद-तारे भी परिचित नहीं रहते, जिसका शरीर चाँद-तारे ही हैं, जो भीतर से चाँद-तारों पर शासन करता है, वह तुम्हारी ही आत्मा है, वही अंतर्यामी है, वह अमृत है।

"जो आकाश पर स्थित है और उसके भीतर भी निहित है, जिसके अस्तित्व से स्वयं आकाश परिचित नहीं रहता, जिसका शरीर आकाश ही है, जो भीतर से आकाश पर शासन करता है, वह तुम्हारी ही आत्मा है, वही अंतर्यामी है, वह अमृत है।

"जो अंधकार में स्थित है और उसके भीतर भी निहित है, जिसके अस्तित्व से स्वयं अंधकार भी परिचित नहीं रहता, जिसका शरीर ही अंधकार है, जो भीतर से अंधकार पर शासन करता है, वह तुम्हारी आत्मा है, वही अंतर्यामी है, वह अमृत है।

"जो प्रकाश में स्थित है और उसके भीतर भी निहित है, जिसके अस्तित्व से स्वयं प्रकाश भी परिचित

नहीं रहता, जिसका शरीर ही प्रकाश है, जो भीतर से प्रकाश पर शासन करता है, वह तुम्हारी ही आत्मा है, वही अंतर्यामी है, वह अमृत है।

"जो समस्त भूतों (तत्वों) में स्थित है और उनके भीतर भी निहित है, जिसके अस्तित्व से स्वयं भूत भी परिचित नहीं रहते, जिसका शरीर भूतमय है, जो भीतर से भूतों पर शासन करता है, वह तुम्हारी ही आत्मा है, वही अंतर्यामी है, वह अमृत है।

"जो प्राण में स्थित है और प्राण के भीतर भी निहित है, जिसके अस्तित्व से स्वयं प्राण भी परिचित नहीं रहते, जिसका शरीर प्राणमय है, जो भीतर से प्राण पर शासन करता है, वह तुम्हारी ही आत्मा है, वही अंतर्यामी है, वह अमृत है।

"जो वाणी में स्थित है और वाणी के भीतर भी निहित है, जिसके अस्तित्व से स्वयं वाणी परिचित नहीं रहती, जिसका शरीर वाणी ही है, जो भीतर से वाणी पर शासन करता है, वह तुम्हारी ही आत्मा है, वही अंतर्यामी है, वह अमृत है।

"जो चक्षु में स्थित है और चक्षु के भीतर भी निहित है, जिसके अस्तित्व से स्वयं चक्षु भी परिचित नहीं रहता, जिसका शरीर चक्षु ही है, जो भीतर से चक्षु पर शासन करता है, वह तुम्हारी ही आत्मा है, वही अंतर्यामी है, वह अमृत है।

"जो श्रोत्र (कर्णेन्द्रिय) में स्थित है और उसके भीतर भी निहित है, जिसके अस्तित्व से स्वयं श्रोत्र भी परिचित नहीं रहता, जिसका शरीर श्रोत्र ही है,

जो भीतर से श्रोत्र पर शासन करता है, वह तुम्हारी आत्मा ही है, वही अंतर्यामी है, वह अमृत है।

"जो मन में स्थित रहता है और मन के भीतर भी निहित है, जिसके अस्तित्व से स्वयं मन परिचित नहीं रहता, जिसका शरीर मन ही है, जो भीतर से मन पर शासन करता है, वह तुम्हारी ही आत्मा है, वही अंतर्यामी है, वह अमृत है।

"जो त्वचा (स्पर्शेन्द्रिय) पर स्थित है, और त्वचा के भीतर भी निहित है, जिसके अस्तित्व से स्वयं त्वचा भी परिचित नहीं रहता। जिसका शरीर त्वचा ही है, जो भीतर से त्वचा पर शासन करता है, वह तुम्हारी ही आत्मा है, वही अंतर्यामी है, वह अमृत है।

"जो विज्ञान पर स्थित है और विज्ञान के भीतर भी निहित है, जिसके अस्तित्व से स्वयं विज्ञान भी परिचित नहीं रहता, जिसका शरीर विज्ञानमय है, जो भीतर से विज्ञान पर शासन करता है, वह तुम्हारी ही आत्मा है, वही अंतर्यामी है, वह अमृत है।

"जो पुरुष की जनन-शक्ति पर स्थित है और जनन-शक्ति के भीतर भी निहित है, जिसके अस्तित्व से स्वयं जनन-शक्ति भी परिचित नहीं रहती, जिसका शरीर ही जनन-शक्ति है, जो भीतर से जनन-शक्ति पर शासन करता है, वह तुम्हारी ही आत्मा है, वही अंतर्यामी है, वह अमृत है।

"वह स्वयं अदृश्य रहने पर भी देखता है, स्वयं अश्रुत रहने पर भी सुनता है, स्वयं अमन (अचिंत्य) रहने पर भी वह मनन (चिंतन) करता है, स्वयं

अज्ञात रहने पर भी वह सब-कुछ जानता है। उसके अतिरिक्त कोई देखनेवाला नहीं है, उसे छोड़कर दूसरा कोई सुननेवाला नहीं है, मनन करनेवाला नहीं है और जाननेवाला नहीं है। एकमात्र वही ये सब क्रियाएँ करता है। वह तुम्हारी ही आत्मा है, वही अंतर्यामी है, वह अमृत है। उससे भिन्न जो कुछ भी है वह नाशवान् है।"

जब याज्ञवल्क्य ने इस प्रकार विस्तार के साथ आत्मा की एकता, सर्वव्यापकता और अमरता का ज्ञान समझाया, तो उद्दालक आरुणि चुप हो गया।

[८]

उसके बाद गार्गी वाचक्नवी यज्ञ-सभा के समस्त ब्राह्मणों को संबोधित करके बोली—"हे आदरणीय ब्राह्मणो ! मैं याज्ञवल्क्य से दो प्रश्न और करना चाहती हूँ। यदि वह मेरे प्रश्नों का ठीक-ठीक उत्तर दे दें, तब आप लोग निश्चित रूप से यह मान लें कि आप में से कोई भी ब्रह्मवाद में उनसे जीतने में समर्थ नहीं है।"

ब्राह्मणों ने कहा—"गार्गी, हमने तुम्हारी बात मान ली। तुम याज्ञवल्क्य से प्रश्न करो।"

तब गार्गी सतेज स्वर में बोली—"हे याज्ञवल्क्य, जिस प्रकार वीर-पुत्र काशिराज या विदेहराज अपने धनुष में डोरी चढ़ाकर, अपने हाथ में दो तीक्ष्ण तीरों को लेकर अपने विपक्षी के आगे खड़ा होता है, उसी प्रकार मैं दो प्रश्नों को लेकर तुम्हारे आगे खड़ी होती हूँ। तुम्हें मुझे उन प्रश्नों का उत्तर देना होगा।"

याज्ञवल्क्य ने कहा—"तुम अवश्य प्रश्न करो, गार्गी।"

गार्गी ने प्रश्न किया—"हे याज्ञवल्क्य ! स्वर्गलोक के ऊपर क्या है, पृथ्वी के नीचे क्या है, इन दोनों के बीच में क्या है, स्वर्ग और पृथ्वी ये दोनों क्या हैं, भूत, वर्तमान और भविष्य क्या है, और यह सब दृश्य जगत् किससे ओतप्रोत है (छाया हुआ है) ?"

याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—"स्वर्ग-लोक के ऊपर जो कुछ है, पृथ्वी के नीचे जो कुछ है, बीच में जो कुछ है, वह सब आकाश है। स्वर्ग और पृथ्वी, भूत, वर्तमान और भविष्य, ये सब भी आकाश से ही ओतप्रोत हैं।"

गार्गी बोली—"हे याज्ञवल्क्य ! तुमने मेरे प्रश्न का यथार्थ उत्तर दिया है. इसलिये मैं तुम्हारे आगे अपना सिर नवाती हूँ। अब मेरे दूसरे प्रश्न के लिये तैयार हो जाओ।"

याज्ञवल्क्य ने कहा—"मैं तैयार हूँ, गार्गी, तुम प्रश्न करो।"

गार्गी ने पूछा—"जब सब-कुछ आकाश से ओत-प्रोत है, तो आकाश किससे ओतप्रोत है ?"

याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—"हे गार्गी, आकाश जिससे ओतप्रोत है उसे ब्राह्मण (ब्रह्म-ज्ञाता) लोग 'अक्षर' (कभी नष्ट न होनेवाला) कहते हैं। यह अविनाशी तत्त्व (आत्मा या ब्रह्म) न स्थूल है, न सूक्ष्म; न दीर्घ (लंबा) है न ह्रस्व (छोटा); न लाल है न स्निग्ध (चिकना); न यह छाया है न अंधकार; न यह वायु है, न आकाश; यह असंग है, अरस है (अर्थात् मीठे और कड़वे दोनों प्रकार के स्वादों के परे है), अचक्षु है, अश्रोत्र है (अर्थात् आँखों से जो-कुछ दिखाई

देता है वह यह नहीं है, कानों से जो कुछ सुनायी देता है वह भी यह नहीं है। न यह वाणी है, न मन है, न प्राण है, न मुख है, न मात्रा है (अर्थात् इसे किसी मापदंड से नापा नहीं जा सकता), न यह अन्तर है, न बाहर है। यह न किसी वस्तु को खाता है, न इसे कोई खा सकता है।

"हे गार्गी, इस अविनाशी तत्त्व के शासन से ही सूर्य और चन्द्रमा अपने-अपने स्थानों पर हैं; उसी के शासन से आकाश-लोक और पृथ्वी अपने-अपने स्थानों पर हैं; उसी के शासन से पल, मुहूर्त, दिन, रात, पक्ष, मास, ऋतु और वर्ष अपनी-अपनी नियत परिधियों पर अवस्थित हैं; उसी के शासन से पूर्वी प्रदेशों की नदियाँ बर्फ़ के सफ़ेद पहाड़ों से होकर पूर्व दिशाओं की ओर बहती हैं और पश्चिम प्रदेशों की नदियाँ पश्चिम की ओर बहती हैं। हे गार्गी, उसी के शासन से लोग दाता की प्रशंसा करते हैं, देवता यज्ञ करनेवाले व्यक्ति का अनुगमन करते हैं और पितर आहुतियों को अपनाते हैं।

"हे गार्गी, इस संसार में जो व्यक्ति इस अक्षर (ब्रह्म) से अपरिचित होकर यज्ञ करता है, देवताओं की उपासना करता है, वह जन्म-जन्मान्तर तक तपस्या करने पर भी बार-बार अपने कर्मचक्र से बँधा रहता है और अपने किये कर्मों का फल भोगता रहता है। और जो व्यक्ति उस अविनश्वर तत्त्व को जानकर इस लोक से विदा होता है वही ब्राह्मण (ब्रह्म-ज्ञाता) है।

"हे गार्गी, यही अक्षर ब्रह्म स्वयं अदृश्य होने पर भी सब कुछ देखता है, अश्रुत होने पर भी सब कुछ सुनता है, अमन होने पर भी मनन करता है, अज्ञात होने पर भी सब-कुछ जानता है। उसके अतिरिक्त और कोई दूसरा देखनेवाला नहीं है, उसके सिवा दूसरा कोई सुननेवाला नहीं है, उसे छोड़कर दूसरा कोई चिंतन करनेवाला नहीं है, उसके सिवा दूसरा कोई जाननेवाला नहीं है। हे गार्गी, यह समस्त आकाश एक-मात्र उसी से ओतप्रोत है।"

तब गार्गी उपस्थित मंडली को संबोधित करके बोली—"हे ब्राह्मणो! मेरी बात मान लीजिए, और याज्ञवल्क्य को अधिक वादविवाद से मुक्त कीजिए। ब्रह्म के सम्बन्ध में ज्ञान और तर्क में उनसे जीत सकनेवाला आप लोगों में से कोई भी नहीं है।"

यह कहकर वचक्नु की पुत्री गार्गी शांत हो गई।

[६]

विदग्ध शाकल्य नामक एक ब्राह्मण बड़ा दंभी था। वह अपने को बहुत बड़ा पंडित समझता था, इसलिये गार्गी की बात सुनकर भी वह शांत नहीं हुआ और याज्ञवल्क्य से प्रश्न करने लगा। उसने पूछा—"हे याज्ञ-वल्क्य! देवता कितने हैं?"

याज्ञवल्क्य ने कहा—"विश्वदेव शास्त्रों के 'निवित्' नामक मंत्रों में जितने देवताओं का उल्लेख किया गया है देवता उतने ही हैं, अर्थात् ३,३०६ देवता हैं।"

विदग्ध ने फिर पूछा—"हे याज्ञवल्क्य! देवता कितने हैं?"

"तैंतीस हैं।"

"फिर कितने देवता हैं?"

"छः हैं।"

"फिर कितने देवता हैं?"

"तीन हैं।"

"फिर कितने देवता हैं?"

"दो हैं।"

"फिर कितने हैं?"

"आधे से अधिक।"

"फिर कितने हैं?"

"एक।"

"ये ३,३०६ देवता कौन हैं?"

याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—"यह संख्या तो देवताओं की महिमा बढ़ाने के लिये है। वास्तव में देवता ३३ ही हैं।"

"ये तैंतीस कौन हैं?"

"आठ वसु, ग्यारह रुद्र, और बारह आदित्य—ये इकतीस हुए। इन्द्र और प्रजापति को मिलाकर तैंतीस हुए।"

"आठ वसु कौन-कौन हैं?"

"अग्नि, पृथ्वी, वायु, अन्तरिक्ष, आदित्य, देवलोक, चंद्रमा, और नक्षत्र (तारे), ये आठ वसु हैं। इन्हीं पर सारी सृष्टि अवलंबित है।"

"रुद्र कौन हैं?"

"पुरुष के भीतर जो दस प्राण-शक्तियाँ हैं वे, और एक आत्मा, ये ग्यारह रुद्र हैं। जब ये रुद्र इस शरीर

से अलग होते हैं तो वे रुदन करते हैं (रोते हैं)। रुदन करने के कारण ही वे 'रुद्र' कहे जाते हैं।"

"आदित्य कौन हैं ?"

"वर्ष के बारह मास ही आदित्य हैं। वे मनुष्य की आयु और उसके सब कर्मों को अपने साथ लेकर चलते रहते हैं ('आददाना यन्ति') इसलिये वे 'आदित्य' कहे जाते हैं।"

"इन्द्र कौन है और प्रजापति कौन है ?"

"बादल ही इन्द्र है और यज्ञ ही प्रजापति है।"

"बादल क्या है ?"

"बिजली ही बादल है।"

"यज्ञ क्या है ?"

"पशु ही यज्ञ है।"

"छः विशेष देवता कौन हैं ?"

"अग्नि, पृथ्वी, वायु, अन्तरिक्ष, आदित्य (सूर्य) और स्वर्गलोक—ये छः विशेष देवता हैं।"

"तीन विशेष देवता कौन हैं ?"

"तीन लोक ही तीन विशेष देवता हैं, क्योंकि उनके भीतर सब देवता आ जाते हैं।"

"दो विशेष देवता कौन हैं ?"

"अन्न और प्राण, ये दो विशेष देवता हैं।"

"आधे से अधिक (अध्यार्ध) देवता कौन है ?"

"सबको पवित्र करनेवाला पवन (वायु) ही अध्यार्ध देवता है।"

"वह तो पूरा एक है—अध्यार्ध (आधे से कुछ अधिक) कैसे हुआ ?"

"इसलिये कि उससे सब कुछ वर्धित होता है (बढ़ता है)।" *

"एक विशेष देवता कौन है ?"

"प्राण (जीवन) ही एक विशेष देवता है। वही ब्रह्म है, वही अतीन्द्रिय है। उस प्राणपुरुष का निवास पृथ्वी है, उसका लोक अग्नि है, उसकी ज्योति मन है, वह प्रत्येक जीवात्मा का परम आश्रय-स्थान है। जो व्यक्ति उसे इस रूप में जानता है वास्तव में उसे ही 'जाननेवाला' कहा जा सकता है।"

तब विदग्ध ने कहा—"हे याज्ञवल्क्य ! मैं उस पुरुष को जानता हूँ जिसे तुम प्रत्येक जीवात्मा का आश्रय-स्थान बताते हो। वह शरीर के भीतर निवास करनेवाला पुरुष है।"

तब याज्ञवल्क्य ने उससे प्रश्न किया—"हे शाकल्य ! उस शरीर के भीतर स्थित रहनेवाले पुरुष का देवता कौन है ? "

विदग्ध बोला—"अमृत (अमरत्व) ही उसका देवता है।

याज्ञवल्क्य ने कहा—"काम (अन्तर्मन की वासनाएँ) ही जिसका निवास-स्थान है, हृदय जिसका लोक है, मन जिसकी ज्योति है, जो सब जीवात्माओं का परम आश्रय है, उस पुरुष को जो व्यक्ति जानता है वास्तव में उसे ही 'जाननेवाला' कहा जा सकता है।"

विदग्ध बोला—"हे याज्ञवल्क्य ! तुमने प्रत्येक जीवात्मा

---

* यहाँ पर 'अध्यार्ध' शब्द में श्लेष है।

के आश्रय-स्थान जिस आत्मा की बात कही है, मैं उसे जानता हूँ। वह काममय पुरुष है।"

"हे शाकल्य ! यह बताओ कि उस पुरुष का देवता कौन है ?"

विदग्ध ने कहा—"स्त्री ही उसके देवता-रूप में विराजमान है।"

याज्ञवल्क्य ने कहा—"रूप जिसका निवासस्थान है, चक्षु जिसका लोक है, मन जिसकी ज्योति है उस पुरुष को जो व्यक्ति प्रत्येक जीवात्मा का परम आश्रय मानता है वही वास्तव में जाननेवाला है।"

विदग्ध बोला—"हे याज्ञवल्क्य ! मैं उस पुरुष को जानता हूँ जिसे तुम सब जीवात्माओं का आश्रय बताते हो। वह आदित्य-पुरुष है।"

"तब हे शाकल्य ! यह बताओ कि उस पुरुष का देवता कौन है ?"

"सत्य ही उसका देवता है।"

याज्ञवल्क्य ने कहा—"आकाश जिसका निवास-स्थान है, कर्णेन्द्रिय जिसका लोक है, मन जिसकी ज्योति है, उस पुरुष को जो व्यक्ति सब जीवात्माओं का परम आश्रय मानता है वही वास्तव में जाननेवाला है।"

विदग्ध बोला—"हे याज्ञवल्क्य ! मैं उस पुरुष को जानता हूँ। वह श्रौत्र पुरुष है।"

"तब बताओ उसका देवता कौन है ?"

"दिशाएँ ही उसके देवता-रूप में विराजमान हैं।"

याज्ञवल्क्य ने कहा—"अंधकार जिसका निवास-स्थान है, हृदय जिसका लोक है, मन जिसकी ज्योति है,

उस पुरुष को जो व्यक्ति प्रत्येक जीवात्मा का परम आश्रय मानता है, वही वास्तव में जाननेवाला है।"

विदग्ध बोला—"हे याज्ञवल्क्य! मैं उसे जानता हूँ। वह छायामय पुरुष है।"

"तब बताओ उसका देवता कौन है?"

"मृत्यु ही उसका देवता है।"

याज्ञवल्क्य ने कहा—"रूप जिसका निवासस्थान है, चक्षु जिसका लोक है, मन जिसकी ज्योति है, उस पुरुष को जो व्यक्ति प्रत्येक जीवात्मा का परम आश्रय मानता है वही वास्तव में जाननेवाला है।"

विदग्ध बोला—हे याज्ञवल्क्य! मैं उस पुरुष को जानता हूँ वह आदर्श (दर्पण) मय पुरुष है।

"तब बताओ उसका देवता कौन है?"

"? उसका देवता है।"

'याज्ञवल्क्य ने कहा—"जीव जिसका निवास-स्थान है, हृदय जिसका लोक है, मन जिसकी ज्योति है, उस पुरुष को जो व्यक्ति प्रत्येक जीवात्मा का परम आश्रय मानता है वही वास्तव में जाननेवाला है।"

विदग्ध बोला—"हे याज्ञवल्क्य! मैं उस पुरुष को जानता हूँ, वह जलमय पुरुष है।"

"तब बताओ उसका देवता कौन है?"

"वरुण उसका देवता है।"

याज्ञवल्क्य ने कहा—"जनन-तत्त्व जिसका निवास-स्थान है, हृदय जिसका लोक, मन जिसकी ज्योति है, उस पुरुष को जो व्यक्ति सब जीवात्माओं का परम आश्रय मानता है, वही वास्तव में जाननेवाला है।"

विदग्ध बोला—"हे याज्ञवल्क्य! मैं उसे जानता हूं। वह पुत्रमय पुरुष है।"

"तब उसका देवना कौन है?"

"प्रजापति उसका देवता है।"

[१०]

याज्ञवल्क्य ने विदग्ध शाकल्य की इतनी बातें सुनने के बाद कहा—"इन ब्राह्मणों ने तुम्हारे अहंकार की अग्नि को सुलगा-सुलगाकर तुम्हें कोयले में परिणत कर दिया है।"

विदग्ध बोला—"हे याज्ञवल्क्य! तुम्हारा जो यह दंभ है कि तुमने इन कुरु और पंचाल ब्राह्मणों को हरा दिया है, उसका कारण क्या तुम्हारी यह अहंकार-पूर्ण धारणा है कि तुमने ब्रह्म को जान लिया?"

याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—"मैं दिशाओं के निश्चित स्थान और उनके देवताओं को भी जानता हूँ।"

विदग्ध बोला—"यदि तुम दिशाओं के निश्चित स्थान और उनके देवताओं को जानते हो तो बताओ कि पूर्व दिशा का देवता कौन है?"

"आदित्य (सूर्य)।"

"वह सूर्य किस पर प्रतिष्ठित है?"

"वह आँखों में प्रतिष्ठित है।"

"आँखें किस पर प्रतिष्ठित हैं?"

"रूप पर। क्योंकि आँखों से ही रूप के दर्शन होते हैं।"

"रूप किस पर प्रतिष्ठित है?"

"हृदय में; क्योंकि हृदय से ही रूप का प्रस्फुटन होता है।"

तब विदग्ध ने कहा—"हे याज्ञवल्क्य! तुमने ठीक ही कहा है। अब यह बताओ कि दक्षिण दिशा का देवता कौन है?"

याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—"यम।"

"यम किस पर प्रतिष्ठित है?"

"यज्ञ पर।"

"यज्ञ किस पर प्रतिष्ठित है?"

"दान और दक्षिणा पर।"

"दक्षिणा किस पर प्रतिष्ठित है?"

"श्रद्धा पर; क्योंकि श्रद्धा होने पर ही यजमान, यज्ञ करानेवालों को दान-दक्षिणा देता है।"

"श्रद्धा किस पर प्रतिष्ठित है?"

"हृदय पर; क्योंकि हृदय में ही श्रद्धा का भाव जगता है।"

तब विदग्ध बोला—"हे याज्ञवल्क्य! तुमने ठीक ही बताया है। अब यह बताओ कि पश्चिम दिशा का देवता कौन है?"

"वरुण देवता।"

"वरुण किस पर प्रतिष्ठित है?"

"जल पर।"

"जल किस पर प्रतिष्ठित है?"

"जनन-तत्त्व पर।"

"जनन-तत्त्व किस पर प्रतिष्ठित है?"

"हृदय पर, क्योंकि जब किसी का पुत्र अपने पिता का प्रतिरूप (पिता की समान आकृति और समान गुणों से युक्त) उत्पन्न होता है, तो लोग कहते हैं कि वह

उसके हृदय से उत्पन्न हुआ है और उसके हृदय से निर्मित हुआ है।"

तब विदग्ध बोला—"हे याज्ञवल्क्य! तुमने ठीक ही बताया है। अब यह बताओ कि उत्तर दिशा का देवता कौन है?"

"सोम देवता।"

"सोम किस पर प्रतिष्ठित है?"

"दीक्षा पर (यज्ञ के पूर्व होनेवाले प्रारम्भिक कर्म-कांडों पर)।"

"दीक्षा किस पर प्रतिष्ठित है?"

"सत्य पर; क्योंकि यज्ञ में दीक्षित होनेवाले व्यक्ति से कहा जाता है—'सत्य बोलो।' इसलिये दीक्षा को सत्य पर ही प्रतिष्ठित मानना चाहिये।"

"सत्य किस पर प्रतिष्ठित है?"

"हृदय पर; क्योंकि हृदय द्वारा ही सत्य और असत्य का बोध होता है।"

तब विदग्ध बोला—"हे याज्ञवल्क्य! तुमने ठीक ही बताया है। अब यह बताओ कि ध्रुव दिशा का देवता कौन है?"

"अग्नि देवता।"

"अग्नि किस पर प्रतिष्ठित है?"

"वाणी पर।"

"वाणी किस पर प्रतिष्ठित है?"

"हृदय पर।"

"हृदय किस पर प्रतिष्ठित है?"

इस बात पर याज्ञवल्क्य बिगड़ उठे—"हे अहल्लिक!

(भूत, प्रेत या निशाचर) यदि तुम्हारी यह धारणा है कि हृदय आत्मा के अतिरिक्त किसी भी दूसरे स्थान पर स्थापित है, तो उसे कुत्ते क्यों नहीं खा जाते या चिड़ियाँ चोंचों से क्यों उसके चिथड़े नहीं उड़ातीं ?"

तब विदग्ध बोला—"तब यह बताओ कि तुम स्वयं और तुम्हारी आत्मा कहाँ स्थित है ?"

"प्राण पर स्थित है।"

"और प्राण किस पर स्थित है ?"

"अपान पर।"

"और अपान किस पर प्रतिष्ठित है ?"

"व्यान पर।"

"और व्यान किस पर आश्रित है ?"

"उदान वायु पर।"

"और उदान किस पर प्रतिष्ठित है ?"

"समान वायु पर, जो समस्त प्राण-शक्तियों में सामंजस्य स्थापित करता है। तुम्हारे इन सब प्रश्नों के जो उत्तर मैंने दिये हैं उनसे तुम्हें यह जान लेना चाहिये कि आत्मा न यह है न वह (नेति नेति), यह इन्द्रियों द्वारा अग्राह्य है (अर्थात् इन्द्रियों द्वारा उसका अनुभव नहीं किया जा सकता), यह छीजनेवाला नहीं है, यह असंग है (अर्थात् यह किसी वस्तु या विषय से लिप्त नहीं होता, न किसी के संपर्क में आता है), इसकी कोई सीमा नहीं है, न इसे पीड़ा पहुँचती है न इसका नाश होता है। तुम्हें यह भी जान लेना चाहिये कि इस सृष्टि-चक्र में आठ निवास हैं, आठ लोक हैं, आठ देवता हैं और आठ पुरुष हैं। जो व्यक्ति उन पुरुषों को उनके (आठ) विभक्त

रूपों तथा सम्मिलित रूपों में ठीक-ठीक जान लेता है वह समस्त सृष्टिचक्र पर विजय प्राप्त कर लेता है। अब मैं तुमसे प्रश्न करता हूँ कि उपनिषदों के, पुरुष का यथार्थ रूप क्या है? यदि तुम उसका यथार्थ रूप नहीं बता पाओगे तो तुम्हारा सिर धड़ से अलग हो जावेगा।"

विदग्ध शाकल्य उपनिषदों में वर्णित पुरुष का यथार्थ रूप बताने में असमर्थ रहा, इसलिये उसका सिर धड़ से अलग हो गया। जब उसका मृत शरीर अंतिम संस्कार के लिये ले जाया जा रहा था तो रास्ते में डाकुओं ने उसे कुछ और समझा और वे उसे छीन ले गए।

उसके बाद याज्ञवल्क्य ने उपस्थित ब्राह्मणों को सम्बोधित करके कहा—"हे ब्राह्मणो! क्या आप लोगों में से कोई और व्यक्ति मुझसे प्रश्न करने की इच्छा रखता है, या आप सब लोग मिलकर कोई प्रश्न मुझसे करना चाहते हैं?"

किसी भी ब्राह्मण को कोई प्रश्न करने का साहस नहीं हुआ।

तब याज्ञवल्क्य ने उन लोगों से कहा—"जैसे वृक्ष वनस्पति का स्वजातीय है, उसी प्रकार पुरुष सत्य का स्वजातीय है। वृक्ष के पत्ते ही उसके बाल हैं, पेड़ का ऊपरी छिलका उसका चमड़ा है। उसके चमड़े के भीतर उसी प्रकार रक्त प्रवाहित होता है जिस प्रकार पेड़ के भीतर रस। उसे चोट लगने पर रक्त निकल आता है, जिस प्रकार पेड़ पर कुल्हाड़े की चोट पड़ने पर उससे रस बहने लगता है। पेड़ का भीतरी छिलका ही उसका मांस है, भीतर की लकड़ियाँ उसकी हड्डियाँ

हैं, और उसका गूदा ही उसकी मज्जा है। यदि किसी पेड़ को काट दिया जाय, तो वह फिर नये सिरे से जड़ से उग आता है। उसी प्रकार जब मर्त्य पुरुष को मृत्यु जड़ से काट डालती है, तो वह फिर किस जड़ से उगता है? यदि यह कहें कि वह पुरुष के जनन-तत्त्व से उगता है तो यह भूल होगी, क्योंकि जनन-तत्त्व जीवित मनुष्य से उत्पन्न होता है। पेड़ जड़ से कट जाने पर बीज से फिर उत्पन्न होता है। पर यदि जड़ ही को नष्ट कर दिया जाय तो वह फिर नहीं उग सकता। उसी प्रकार यदि मर्त्य मनुष्य को मृत्यु काट डाले तो वह किस जड़ से नये सिरे से उग उठता है? जो एक बार पैदा हो चुका है, वह फिर दूसरी बार अपने आप उत्पन्न नहीं हो सकता। तब कौन उसे बाद में नये सिरे से उत्पन्न करता है?"

उपस्थित ब्राह्मण-मंडली याज्ञवल्क्य के इस प्रश्न का कोई उत्तर न दे सकी। तब याज्ञवल्क्य ने कहा—"विज्ञान और आनन्दमय ब्रह्म ही उसका कारण है। वही यज्ञ करनेवाले दानी का अंतिम लक्ष्य है, और वही उस व्यक्ति का भी चरम लक्ष्य है जो यज्ञ न करने पर भी ज्ञान द्वारा उसे जानता है।"

जनक और याज्ञवल्क्य

एक बार जब विदेह-राज जनक अपने सिंहासन पर बैठे हुए थे; तब याज्ञवल्क्य उनके पास जा पहुँचे। राजा जनक ने उनसे पूछा—"हे याज्ञवल्क्य! तुम मेरे पास किस उद्देश्य से आए हो? पशुओं को प्राप्त करने की इच्छा से या ब्रह्मज्ञान-संबंधी प्रश्नों की आकांक्षा से?"

याज्ञवल्क्य ने कहा—"महाराज! मैं दोनों इच्छाओं को लेकर आया हूँ।"

तब सम्राट् जनक बोले—"पहले तुम यह बताओ कि तुम्हें किस व्यक्ति ने क्या सिखाया है।"

याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—"जित्वा शैलिनि ने मुझे यह सिखाया है कि वाणी ही ब्रह्म है।"

सम्राट् जनक बोले—"माता, पिता और गुरु की तरह शैलिनि ने तुम्हें यह सिखाया कि वाणी ही ब्रह्म है, क्योंकि जो व्यक्ति वाणी से रहित हो, जो बोल ही न पावे, वह किस काम का हो सकता है? उसने निश्चय

ही तुम्हें यह भी बताया होगा कि उसका आयतन; अर्थात् स्थान या शरीर क्या है और उसकी प्रतिष्ठा (भूत, वर्तमान और भविष्य में उसकी स्थिति) क्या है।"*

याज्ञवल्क्य ने कहा—"उसने मुझे यह नहीं बताया कि ब्रह्म केवल एक पाँव के बल खड़ा है, जैसा कि आप सोचते हैं; बल्कि यह बताया कि उसके चार पाँव हैं।"

"यदि ऐसा है, तो हे याज्ञवल्क्य ! मुझे समझाओ कि ऐसा किस प्रकार और क्यों है?"

याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—"हे सम्राट् ! वाणी ही आयतन है, वाणी ही प्रतिष्ठा है, वाणी ही आकाश है और वाणी ही प्रज्ञा (ज्ञान) है। इसी प्रज्ञा के रूप में ही ब्रह्म की उपासना की जानी चाहिये। यही ब्रह्म का चौथा पाँव है।"

जनक ने पूछा—"प्रज्ञा क्या है?"

याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—"हे सम्राट् ! वाणी ही प्रज्ञा है। वाणी से ही मित्र जाना जाता है, वाणी से ही ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, आंगिरस, इतिहास, पुराण, विद्या, उपनिषद्, श्लोक, सूत्र, मंत्रों की व्याख्याएँ, व्याख्यान, यज्ञ-फल, यह लोक, परलोक, तथा समस्त प्राणियों का ज्ञान होता है। हे सम्राट् ! वाणी द्वारा ही ब्रह्म को जाना जा सकता है; वाणी ही परब्रह्म है। जो

---

* ब्रह्म के दो रूपों का उल्लेख इस रूपक में पाया जाता है। एक तो उसका वह रूप जो इस नश्वर शरीर के भीतर अस्थायी रूप से निवास करता है, दूसरा वह रूप जो अनादि काल से युग-युग में बदलते हुए रूपों में व्यक्त होता चला जाता है।

इस ज्ञान से ब्रह्म की उपासना करता है उसका साथ वाणी नहीं छोड़ती; सब प्राणी उसका अनुसरण करते हैं; वह स्वयं देवता बनकर देवताओं के पास चला जाता है।"

तब सम्राट् जनक ने कहा—"हे याज्ञवल्क्य ! मैं तुम्हें हाथियों के बराबर बड़ी एक हाज़र गायें दान करता हूँ।"

याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—"हे सम्राट् ! मुझे मेरे पिता ने यह उपदेश दिया था कि किसी को पूर्ण शिक्षा दिये बिना ही दान नहीं लेना चाहिये।"

सम्राट् जनक बोले—"शैलिनि को छोड़कर और किसी दूसरे व्यक्ति ने तुम्हें क्या बताया ?"

याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—"उदंक शौल्बायन (शुल्ब का वंशज) ने मुझे बताया कि प्राण ही ब्रह्म है।"

जनक बोले—"योग्य माता, पिता और गुरु की तरह ही उदंक ने तुम्हें यह सिखाया कि प्राण ही ब्रह्म है। क्योंकि प्राणहीन मनुष्य किस काम का हो सकता है ? उसने निश्चय ही तुम्हें उसका आयतन और स्थिति बताई होगी।"

"हे सम्राट् ! उसने मुझे यह नहीं बताया कि ब्रह्म केवल एक पाँववाला (एकपाद) है।"

"यदि ऐसा है तो, हे याज्ञवल्क्य ! मुझे समझाओ कि ऐसा किस प्रकार और क्यों है ?"

याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—"प्राण ही आयतन है, प्राण ही स्थिति है, प्राण ही आकाश है, प्राण ही सबको प्रिय है। इसी प्रिय रूप में उसकी उपासना करनी चाहिये।

"हे याज्ञवल्क्य ! वह प्रिय रूप क्या है, समझाओ।"

याज्ञवल्क्य ने कहा—"हे सम्राट् ! प्राण ही वह प्रिय रूप है। प्राण के प्रेम से मनुष्य ऐसी वस्तुओं की इच्छा करता है जो कामना के योग्य नहीं हैं। ऐसी वस्तुओं को ग्रहण करता है जो ग्रहण करने योग्य नहीं हैं। प्राण के प्रेम से ही सर्वत्र मारे जाने का भय बना रहता है। हे सम्राट् ! प्राण ही परब्रह्म है। जो ब्रह्म को इस रूप में जानकर उसकी उपासना करता है, उसे प्राण नहीं त्यागता; सभी प्राणी उसका अनुसरण करते हैं; वह स्वयं देवता बनकर देवलोक में चला जाता है।"

तब सम्राट् जनक बोले—"हे याज्ञवल्क्य ! मैं तुम्हें हाथी के बराबर बड़ी एक हज़ार गायें प्रदान करता हूँ।"

याज्ञवल्क्य ने कहा—"हे सम्राट् ! मेरे पिता ने मुझे यह उपदेश दिया था कि बिना पूर्ण शिक्षा दिये दान ग्रहण नहीं करना चाहिये।"

"तब बताओ, और किसने तुम्हें क्या सिखाया ?"

याज्ञवल्क्य ने कहा—"वर्कु वार्ष्ण (वृष्ण-वंशज) ने मुझे बताया कि चक्षु ही ब्रह्म है।"

जनक बोले— 'उसने योग्य माता, पिता, तथा गुरु की तरह तुम्हें यह बताया कि चक्षु ही ब्रह्म है। क्योंकि जिसके आँखें ही न हों, वह मनुष्य किस काम का हो सकता है ? उसने निश्चय ही तुम्हें उसका आयतन और प्रतिष्ठा भी बताई होगी।"

"हे सम्राट् ! उसने मुझे यह नहीं सिखाया कि ब्रह्म केवल एक पाँववाला है।"

"यदि ऐसा है, तो समझाओ कि वह क्या है और कैसा है?"

याज्ञवल्क्य ने कहा—"हे सम्राट्! चक्षु ही उसका आयतन है, वही आकाश है, वही स्थिति है, और वही सत्य है। इसी सत्य के रूप में ही उसकी उपासना करनी चाहिये।"

"हे याज्ञवल्क्य! वह सत्य क्या है?"

"चक्षु ही वह सत्य है। जब कोई व्यक्ति चक्षु से किसी वस्तु को देखता है, तो लोग उससे पूछते हैं—'क्या तुमने कुछ देखा है?' वह उत्तर देता है—'हाँ, मैंने अमुक-अमुक वस्तु देखी है।' जो कुछ भी उसने देखा हो वही सत्य है। (अर्थात् सृष्टि में जो कुछ भी दिखाई देता है वह सब सत्य ही का रूप है।) हे सम्राट्! चक्षु ही परब्रह्म है। जो व्यक्ति यह जानकर चक्षु की उपासना करता है चक्षु उसे नहीं तजता; समस्त प्राणी उसका अनुसरण करते हैं; वह स्वयं देवता बनकर देवताओं के साथ मिल जाता है।"

तब विदेह-राज जनक ने कहा—"हे याज्ञवल्क्य! मैं तुम्हें हाथी के बराबर बड़ी एक सहस्र गायें प्रदान करता हूँ।"

याज्ञवल्क्य ने कहा—"मेरे पिता ने मुझे यह उपदेश दिया था कि पूर्ण शिक्षा दिये बिना किसी से दान नहीं लेना चाहिये।"

"तब बताओ कि और किसने तुम्हें क्या सिखाया?"

याज्ञवल्क्य ने कहा—"भारद्वाजवंशीय गर्दभीविपीत ने मुझे बताया कि कर्ण ही ब्रह्म है।"

"योग्य माता, पिता तथा गुरु की तरह ही भारद्वाज ने तुम्हें यह बताया कि 'कर्ण ही ब्रह्म है; क्योंकि जो व्यक्ति कानों से सुन न सके वह किस काम का हो सकता है ?' उसने निश्चय ही तुम्हें उसका आयतन और प्रतिष्ठा के संबंध में बताया होगा।"

याज्ञवल्क्य ने कहा—"हे सम्राट् ! उसने मुझे यह नहीं बताया कि ब्रह्म एक ही पाँववाला है।"

"हे याज्ञवल्क्य ! मुझे यह समझाओ कि वह कैसा है और क्या है ?"

"कर्ण ही आयतन है, कर्ण ही आकाश है, कर्ण ही स्थिति है और कर्ण ही अनन्त है। इसी अनन्त रूप में उसकी उपासना करनी चाहिये।"

जनक ने पूछा—"वह अनन्त रूप क्या है ?"

याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—हे सम्राट् ! दिशाएँ अनन्त हैं, इसी कारण किसी भी दिशा का अंत कहीं नहीं दिखाई देता। ये दिशाएँ ही कान हैं। इसलिये श्रोत्र (कान) ही परब्रह्म है। जो इस रूप में ब्रह्म की उपासना करता है, कान उसे नहीं तजते; सभी प्राणी उसका अनुसरण करते हैं; वह स्वयं देवता बनकर देवताओं के पास चला जाता है।"

विदेह-राज जनक ने कहा—"हे याज्ञवल्क्य ! मैं तुम्हें हाथी के बराबर बड़ी एक हज़ार गायें प्रदान करता हूँ।"

याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—"मेरे पिता ने मुझे यह उपदेश दिया था कि पूर्ण शिक्षा दिये बिना किसी का दान ग्रहण नहीं करना चाहिये।'

तब सम्राट् जनक बोले—"तब बताओ, तुम्हें और किसने क्या सिखाया ?"

याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—"सत्यकाम जाबाल (जबाला का पुत्र) ने मुझे यह सिखाया कि मन ही ब्रह्म है।"

"योग्य माता, पिता और गुरु की तरह ही सत्यकाम ने तुम्हें यह सिखाया कि मन ही ब्रह्म है; क्योंकि जिसके मन ही न हो वह किस काम का हो सकता है ? उसने निश्चय ही तुम्हें मन के आयतन और स्थिति के संबंध में बताया होगा।"

"हे सम्राट् ! उसने मुझे यह नहीं बताया कि ब्रह्म केवल एक ही पाँववाला है।"

जनक बोले—"समझाओ कि वह कैसा है और क्या है ?"

याज्ञवल्क्य ने कहा—"मन ही आयतन है, मन ही आकाश है, मन ही स्थिति है और मन ही आनन्द है। इसी आनन्दमय रूप में उसकी उपासना करनी चाहिये।"

"हे याज्ञवल्क्य ! उस आनन्द का स्वरूप क्या है ?"

"हे सम्राट् ! मन से ही स्त्री को प्राप्त करने की इच्छा होती है। स्त्री से अपना ही प्रतिरूप पुत्र उत्पन्न होता है, और वह पुत्र ही आनन्द है। इसलिये हे सम्राट् ! मन ही परब्रह्म है। जो इस रूप में ब्रह्म की उपासना करता है उसे मन कभी नहीं तजता। सभी प्राणी उसका अनुसरण करते हैं; वह स्वयं देवता बनकर देवताओं के पास ही चला जाता है।"

विदेह-राज जनक बोले—"हे याज्ञवल्क्य ! मैं तुम्हें हाथी के बराबर बड़ी एक हज़ार गायें प्रदान करता हूँ।"

याज्ञवल्क्य ने कहा—"मेरे पिता ने मुझे यह उपदेश दिया था कि पूर्ण शिक्षा दिये बिना किसी से दान ग्रहण नहीं करना चाहिये।"

सम्राट् जनक बोले—"तब बताओ और किसने तुम्हें क्या सिखाया।"

याज्ञवल्क्य ने कहा—"विदग्ध शाकल्य ने मुझे यह बताया कि हृदय ही ब्रह्म है।"

"योग्य माता पिता और गुरु की तरह ही विदग्ध शाकल्य ने तुम्हें यह बताया कि हृदय ही ब्रह्म है; क्योंकि जिसके हृदय ही न हो वह व्यक्ति किस काम का हो सकता है? उसने निश्चय ही तुम्हें उसके आयतन और प्रतिष्ठा के संबंध में बताया होगा।"

"उसने मुझे यह नहीं बताया कि ब्रह्म केवल एक पाँववाला है।"

"तब समझाओ कि वह कैसा है और क्या है?"

याज्ञवल्क्य ने कहा—"हे सम्राट् ! हृदय ही आयतन है, हृदय ही आकाश है, हृदय ही प्रतिष्ठा है और हृदय ही स्थिति है।"

"स्थिति किस प्रकार है?"

"हे सम्राट् ! हृदय ही सब प्राणियों का आयतन है, हृदय ही प्रतिष्ठा है, हृदय ही में सब प्राणी प्रतिष्ठित होते हैं, इसलिये हृदय ही परब्रह्म है। जो यह जानकर ब्रह्म की उपासना करता है उसे हृदय कभी नहीं तजता;

सभी प्राणी उसका अनुसरण करते हैं; वह स्वयं देवता बनकर देवताओं के पास चला जाता है।"

तब विदेह-राज जनक ने कहा—"हे याज्ञवल्क्य ! मैं तुम्हें हाथी के बराबर बड़ी एक हज़ार गायें प्रदान करता हूँ।"

याज्ञवल्क्य ने कहा—"मेरे पिता ने मुझे यह उपदेश दिया है कि पूर्ण शिक्षा दिये विना किसी से दान नहीं लेना चाहिये।"

[२]

विदेह-राज जनक ने जब याज्ञवल्क्य की ज्ञान-भरी बातें सुनीं, तो वह अपने सिंहासन से उठ खड़े हुए और दोनों हाथ जोड़कर मस्तक नवाते हुए बोले—"हे याज्ञ-वल्क्य ! मैं तुम्हें प्रणाम करता हूँ। तुम महाज्ञानी हो, इसलिये तुम मुझे ब्रह्मज्ञान सिखाओ।"

याज्ञवल्क्य ने कहा—"जिस प्रकार दूर देश की यात्रा के लिये तैयार होने के बाद कोई व्यक्ति रथ या नाव पर सवार होने के लिये पग बढ़ाता है, उसी प्रकार हे सम्राट्, अब तुम्हारा मन भी उपनिषदों की उपासना-पद्धतियों का बोध होने पर ब्रह्मज्ञान के लिये तैयार हो गया है। तुम माननीय हो, संपन्न हो, वेदवेत्ता हो, और उपनिषदों की शिक्षा भी तुम पा चुके हो। पर यह सब होने पर भी जब तक तुम सब ज्ञानों का परम ज्ञान—ब्रह्मज्ञान—प्राप्त नहीं कर लेते, तब तक सब वृथा हैं। अब मैं तुमसे प्रश्न करता हूँ—इस शरीर से मुक्त होने पर (अर्थात् मृत्यु के बाद) तुम कहाँ जाते हो ?"

जनक बोले—"भगवन्! मैं नहीं जानता। आप ही मुझे समझाइए।"

"अच्छी बात है। मैं तुम्हें बताऊँगा। ध्यान देकर आदि से अंत तक मेरी बातें सुनो। जो पुरुष दाईं आँख में निवास करता है उसका नाम इन्ध है। उसका वास्तविक नाम इन्ध ही है, पर उसे परोक्ष रूप से इन्द्र कहते हैं, क्योंकि देवगण परोक्ष नामों से पुकारा जाना पसंद करते हैं और प्रत्यक्ष नामों से पुकारे जाने पर असंतुष्ट हो उठते हैं।

"बाईं आँख में पुरुष के रूप में निवास करनेवाली उसकी स्त्री है, जिसका नाम विराट् है। उन दोनों का मिलन-क्षेत्र अन्तर्हृदय का आकाश है; उन दोनों का भोजन हृदय का लाल मांसपिण्ड है; उन दोनों का गुप्त विश्राम-गृह हृदय के भीतर नसों का बना हुआ जाल है; उनका भ्रमण-पथ हृदय से ऊपर उठनेवाली नाड़ी है। जिस प्रकार बाल को हज़ार बार चीरने पर उसका जो रूप रह जाता है, उतनी ही सूक्ष्म हिता नाम की नाड़ियाँ हृदय के भीतर स्थित हैं। इन्हीं सूक्ष्म नाड़ियों से होकर शारीरिक आत्मा का भोजन संचारित होता है। उस भोजन से सूक्ष्मतर वृत्तियों का पोषण होता है। इस शरीरात्मा से उच्चतर आत्मा का पोषण होता है।*

---

* इस रूपक का आशय यह है कि शारीरिक वृत्तियों की समुचित साधना द्वारा ही सूक्ष्म आत्मा का ज्ञान संभव होता है। शारीरिक वृत्तियों को ही सब कुछ समझना भयंकर भूल है, पर साथ ही उनकी उपेक्षा करने से भी सूक्ष्म आत्मा का ठीक-ठीक ज्ञान असंभव है।

"इस शरीरात्मा से पूर्व की ओर जानेवाले प्राण (-वायु) ही उसकी पूर्व दिशा हैं, दक्षिण की ओर प्रवाहित होनेवाले प्राण दक्षिण दिशा हैं, पश्चिम की ओर प्रवाहित होनेवाले प्राण उसकी पश्चिम दिशा हैं, और उत्तर की ओर जानेवाले प्राण उत्तर दिशा हैं। सब दिशाएँ प्राण ही हैं। पर जो मूल आत्मा है, वह न यह है न वह; वह मनुष्य की इन्द्रियों द्वारा ग्रहण योग्य नहीं है (अर्थात् इन्द्रियों की अनुभव-शक्ति के परे है); वह छीजनेवाला नहीं है; असंग है (अर्थात् वह किसी से लिप्त नहीं है); असीम है; न उसे किसी प्रकार की पीड़ा का अनुभव होता है, न उसका विनाश होता है। हे जनक! इस अभय आत्मा को तुमने अब प्राप्त कर लिया है।"

तब विदेह-राज जनक बोले—"हे याज्ञवल्क्य! आपने जिस अभय आत्मा की शिक्षा मुझे दी है वह आपकी ही बन जाय। मैं आपको नमस्कार करता हूँ। यह विदेह-राज्य और स्वयं अपने को मैं आप ही के चरणों में अर्पित करता हूँ।"

याज्ञवल्क्य उन्हें आशीर्वाद देकर चले गए।

मोक्ष का मार्ग

एक बार याज्ञवल्क्य विदेह-राज जनक के पास गए। उन्होंने अपने मन में यह निश्चय कर लिया था कि वह अपने से राजा जनक को किसी विषय का ज्ञानोपदेश नहीं देंगे; वह (जनक) जो कुछ प्रश्न करेंगे उसका उत्तर दे देंगे। बात यह हुई थी कि एक बार अग्निहोत्र नामक यज्ञ के अवसर पर राजा जनक के साथ याज्ञवल्क्य ने कुछ ज्ञान-चर्चा की थी। तब याज्ञवल्क्य ने उनकी ज्ञान-प्राप्ति की इच्छा से प्रसन्न होकर उन्हें यह वर दिया था कि वह (राजा जनक) अपनी इच्छानुसार किसी भी विषय का प्रश्न उनसे कर सकते हैं। अपने उसी वर को पूरा करने के लिये वह सम्राट् जनक के पास पहुँचे।"

सम्राट् जनक ने उनसे प्रश्न किया—"हे याज्ञवल्क्य! इस पुरुष (आत्मा) की ज्योति क्या है?"

याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—"सूर्य ही उसकी ज्योति है। सूर्य के प्रकाश से ही पुरुष उठता है, बैठता है,

चलता है, फिरता है, काम करता है और घर जाता है।"

सम्राट् जनक बोले—"हे याज्ञवल्क्य! आपने उचित ही कहा है। अब यह बताइए कि जब सूर्य अस्त हो जाता है तब इस पुरुष की ज्योति किस रूप में प्रकट होती है?"

"चन्द्रमा के रूप में। चन्द्रमा के प्रकाश की सहायता से वह उठता है, बैठता है, चलता है, फिरता है, काम करता है और घर जाता है।

सम्राट् जनक बोले—"हे याज्ञवल्क्य! आपने उचित ही कहा है। अब यह बताइए कि जब सूर्य और चन्द्रमा दोनों अस्त हो जाते हैं तब इस पुरुष की ज्योति किस रूप में प्रकट होती है?"

"अग्नि के रूप में। अग्नि के प्रकाश में वह उठता है, बैठता है, चलता है, फिरता है और घर जाता है।"

सम्राट् जनक ने कहा—"हे याज्ञवल्क्य! आपने उचित ही कहा है। अब यह बताइए कि जब सूर्य अस्त हो जाता है, चन्द्रमा अस्त हो जाता है और अग्नि शांत हो जाती है तब इस पुरुष की ज्योति किस रूप में प्रकट होती है?"

"वाणी के रूप में। वाणी के प्रकाश से वह उठता है, बैठता है, चलता है, फिरता है, काम करता है और घर जाता है। इसलिये हे सम्राट्! जब अँधेरे में हाथ से हाथ नहीं सूझता तब वह वहाँ आश्रय लेता है जहाँ से शब्द उच्चारित होता है। शब्द के सहारे वह अपने सब काम करता है।

जनक बोले—"हे याज्ञवल्क्य! तुमने उचित ही

कहा है। अब यह बताइए कि जब सूर्य अस्त हो जाता है, चन्द्रमा अस्त हो जाता है, अग्नि शांत हो जाती है और वाणी भी शांत हो जाती है, तब इस पुरुष की ज्योति क्या होती है?"

याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—"तब आत्मा ही उसकी ज्योति होती है। आत्मा के प्रकाश से ही तब वह उठता है, बैठता है, चलता है, फिरता है, सब काम करता है और घर जाता है।

"वह आत्मा कौन है?"—जनक ने पूछा।

याज्ञवल्क्य ने कहा—"वह पुरुष जो समस्त प्राणमय इन्द्रियों में विज्ञानमय है, जो हृदय के अन्तस्तल में चिर-विराजमान है, जो परम ज्योति है। हृदय के साथ एकरूप होकर वह दोनों लोकों (यहलोक और परलोक) में विचरण करता है। सोचने-समझने, चिंतन और मनन करनेवाला वही है, चलने-फिरनेवाला भी वही है। हृदय (अन्तस्तल) के साथ जब वह एकरूप हो जाता है तब वह प्रतिदिन के यथार्थ जीवन को पार करके स्वप्नलोक में अपने को व्यक्त करता है और मृत्यु के नाना रूपों को पार करके अमर-लोक में रमता है।

"यह पुरुष जब शरीर धारण करके उत्पन्न होता है, तो बहुत-से पापों (दुःख और सुख के कारणों) में वह लिप्त हो जाता है, और जब वह इस शरीर को त्यागकर उससे ऊपर उठता है तो वह अपने पापों को छोड़ जाता है।

"इस पुरुष के दो स्थान हैं—एक यह लोक और दूसरा परलोक। इन दोनों के बीच एक स्थान और है जो

स्वप्न लोक है। इस बीच के स्थान में—स्वप्नलोक में—पुरुष दोनों लोकों (यह लोक और परलोक) के दर्शन करता है। परलोक से प्राप्त करने के लिये वह जीवन में जिस प्रकार के उपायों को काम में लाता है उसी के अनुसार वह या तो पाप का भोग करता है या आनन्द का। जब सब प्रकार की आकांक्षाओंका त्याग करके सब प्रकार के इच्छित कर्मों से हाथ खींचकर सो जाता है (अर्थात् निर्विकार, निर्लिप्त और निश्चेष्ट हो जाता है) और सृष्टि के समस्त तत्त्वों का बीजरूप अपने भीतर धारण करता हुआ भी स्वयं अकाम हो जाता है, स्वयं अपनी मूलगत ज्योति और प्रकाश के बल पर स्थित रह-कर निःसंग अवस्था में पूर्ण विश्राम करता है, और स्वप्नों के बाँध को मुक्त दशा में छोड़ देता है, तब स्वयं भी विशुद्ध ज्योति बन जाता है। (अर्थात् जब पुरुष सब प्रकार की इच्छाओं से रहित हो जाता है और अच्छे या बुरे किसी भी कर्म में लिप्त नहीं होता, तो उसकी जीवात्मा परमात्मा में मिल जाती है।)

"उस स्वप्नलोक में न रथ हैं, न घोड़े, न सड़कें। वह स्वयं वहाँ रथों, घोड़ों और सड़कों को बनाता है। वहाँ न सुख के साधन हैं, न प्रमोद है। वह स्वयं सुख के साधनों और प्रमोद को उत्पन्न करता है। वहाँ न तालाब हैं, न झील हैं, न नदियाँ। वह उन सबों का सृजन स्वयं करता है क्योंकि वह कर्त्ता है।

"स्वप्नलोक में विचरण करता हुआ भी वह उससे अलग रहता है। स्वप्नों में तरह-तरह के रूपों का प्रदर्शन

करता है। कभी हँसता है, कभी रोता है, कभी किसी भयावने दृश्य से भयभीत हो उठता है।

"कुछ लोगों का कहना है कि स्वप्नलोक और जागरण-लोक में कोई अन्तर नहीं है। पर यह बात ठीक नहीं है। स्वप्न में पुरुष स्वयं ज्योति बन जाता है, इसीलिये कोई बाहरी कारण न रहते हुए भी नाना रूपों को दिखाता है और देखता है। जागरण की अवस्था में उसे बाहर से ज्योति प्राप्त होती है।"

राजा जनक ने प्रसन्न होकर कहा—"आपने स्वप्न के सम्बन्ध में जो ज्ञानपूर्ण शिक्षा मुझे दी है, उसके लिये मैं आपको एक हज़ार गायें और दूँगा। अब आप मोक्ष के सम्बन्ध में शिक्षा दीजिए।"

याज्ञवल्क्य बोले—"स्वप्न के बाद वह सुषुप्त अवस्था (गाढ़ निद्रा की अवस्था) को प्राप्त करता है। उस अवस्था में वह पूर्ण आनन्द का उपभोग करता है। पूर्ण आनन्द के उपभोग के बाद वह इधर-उधर विचरण करता है और पाप और पुण्य का दर्शन करता हुआ फिर वह अपनी पूर्व स्थिति—स्वप्नावस्था—में चला आता है। वह स्वप्न की अवस्था में जो कुछ भी देखता है उसमें लिप्त नहीं होता, क्योंकि पुरुष असंग है।"

जनक ने कहा—"आपने यथार्थ ही कहा है। मैं आपको और एक हज़ार गायें प्रदान करता हूँ। मुझे फिर मोक्ष-तत्त्व समझाइए।"

याज्ञवल्क्य बोले—"इस स्वप्नावस्था में आनन्द का उपभोग करके वह इधर-उधर विचरण करता रहता है; और पाप-पुण्य का दर्शन करता हुआ वह फिर जागरण

की अवस्था में लौट आता है। वह इस जागरण की अवस्था में भी जो कुछ देखता है उसमें लिप्त नहीं होता, क्योंकि पुरुष (आत्मा) असंग है (किसी के संसर्ग में नहीं रहता)।"

जनक ने कहा—"हे याज्ञवल्क्य, आपने यथार्थ ही कहा है। मैं आपको और एक हज़ार गायें प्रदान करता हूँ। मुझे मोक्ष-तत्त्व एक बार और समझाइए।"

याज्ञवल्क्य बोले—"जागरण की अवस्था में आनन्द का उपभोग करने के बाद पाप तथा पुण्य का दर्शन करता हुआ वह फिर स्वप्न की अवस्था को लौट जाता है। जिस प्रकार एक बड़ी मछली किसी जलाशय के दायें और बायें दोनों किनारों के बीच में तैरती है उसी प्रकार पुरुष स्वप्नावस्था तथा जागरणावस्था—इन दोनों की सीमाओं के बीच में तैरता रहता है।

"जिस प्रकार गरुड़ पक्षी या बाज आकाश में उड़ता हुआ जब थक जाता है तो घोंसले के लिये उत्सुक हो उठता है और अपने पंख पसारकर उसी ओर चला जाता है, उसी प्रकार यह पुरुष भी स्वप्न और जागरण की दोनों अवस्थाओं के बीच भ्रमण करता हुआ जब थक जाता है तो उस परम आश्रय स्थान (निर्गुण आत्मा) की ओर उन्मुख हो उठता है। वहाँ आश्रय ग्रहण करने के बाद वह न किसी प्रकार की आकांक्षा करता है न किसी प्रकार का कोई स्वप्न ही देखता है।"

"यह उसकी (पुरुष की) वास्तविक प्रकृति है। वह मूलतः सब प्रकार के पापों और भयों से मुक्त है। जिस प्रकार प्रियतम व्यक्ति के मिलन से न बाहर की सुधि

रहती है न भीतर की—केवल आनन्द की एक अखण्ड अनुभूति मन और प्राणों में छा जाती है, उसी प्रकार जब प्रज्ञात्मा (सर्वज्ञ—संपूर्ण ज्ञानयुक्त आत्मा) इस पुरुष को आलिंगन करती है तब उसे न बाहर का ज्ञान रहता है न भीतर का। उस अवस्था में उसकी सब कामनाओं की तृप्ति हो जाती है, केवल आत्मानन्दमयी अखण्ड अनुभूति वर्तमान रहती है।

"जब पुरुष आत्मानन्द की इस अनुभूति की अवस्था को प्राप्त हो जाता है तब उसके लिये स्वयं अपना पिता पिता नहीं रह जाता, माता माता नहीं रह जाती, लोक अलोक बन जाते हैं, देव अदेव बन जाते हैं और वेद भी अवेद हो जाते हैं (अर्थात् तब न देवों का कोई महत्व रह जाता है न वेदों का)। तब चोर चोर नहीं रह जाता, ब्रह्मघाती (ब्राह्मण की हत्या करनेवाला) ब्रह्मघाती नहीं रह जाता, चाण्डाल चाण्डाल नहीं रह जाता, पौल्कस (क्षत्रिय स्त्री का शूद्र से उत्पन्न पुत्र) पौल्कस नहीं रह जाता, श्रमण श्रमण नहीं रह जाता और तपस्वी तपस्वी नहीं रह जाता। तब न पुण्य से उसका कोई सम्बन्ध रहता है न पाप से ; क्योंकि तब वह हृदय के समस्त विकारों से मुक्त हो जाता है और कहीं किसी प्रकार का भेदभाव उसके भीतर रंचमात्र भी वर्तमान नहीं रह जाता।

"ऐसा नहीं समझना चाहिये कि इस अखण्ड आत्मानन्द की अवस्था में वह कुछ नहीं देखता, कुछ नहीं सुनता, कुछ नहीं सूँघता, कुछ स्वाद ग्रहण नहीं करता। वह सब कुछ सुनता है, देखता है, सूँघता है और स्वाद

लेता है। पर यह सब करते हुए भी वह निर्विकार, निर्लिप्त और ब्रह्ममग्न रहता है। यह ब्रह्म में मग्न होने की अवस्था ही परम गति है, परम संपत्ति और परम आनन्द है। दूसरे सब प्राणी इस परिपूर्ण आनन्द की तनिक-सी मात्रा का उपभोग अवश्य करते हैं (यदि उपभोग न करते होते तो उस आनन्द की कल्पना ही मनुष्य के मन में कैसे उत्पन्न होती !) पर उसकी पूर्ण अनुभूति केवल ब्रह्म में लीन पुरुष को ही हो सकती है।"

याज्ञवल्क्य ने जब जनक को इस प्रकार ब्रह्म-विषयक ज्ञान सिखाया, तब विदेह-राज मुग्ध होकर बोले— "भगवन् ! आपने मेरा अज्ञान दूर कर दिया है। मैं आपके चरणों में अपना समस्त राज्य सौंपता हूँ और आज से आपका दास हूँ।"

मैत्रेयी

याज्ञवल्क्य की दो पत्नियाँ थीं—एक मैत्रेयी और दूसरी कात्यायनी। मैत्रेयी ब्रह्मवादिनी थी। आध्यात्मिक विषयों की ओर उसका झुकाव था और ब्रह्मविषयक चर्चा अधिक पसन्द थी। कात्यायनी गृह-कार्यों में निपुण थी।

याज्ञवल्क्य ने यह निश्चय किया कि वह गृहस्थ-धर्म में लिप्त न रहकर प्रव्राजक का पथ ग्रहण करेंगे और ब्रह्म-चिन्तना के उद्देश्य से एकान्त स्थानों में जाकर साधना करेंगे।

उन्होंने मैत्रेयी से कहा—"मैत्रेयी, मैं गृहस्थ-आश्रम त्यागकर कहीं चला जाऊँगा और तप करूँगा। मेरी जो सम्पत्ति है उसे मैं तुम्हारे और कात्यायनी के बीच बाँट देना चाहता हूँ।"

मैत्रेयी ने पूछा—"भगवन्! यदि यह सम्पूर्ण पृथिवी अपनी समस्त सम्पत्ति सहित मुझे प्राप्त हो जाती तो क्या मैं अमर हो जाती?"

याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—"नहीं, केवल संपत्ति की प्राप्ति से तुम कदापि अमर नहीं हो सकतीं। धन प्राप्त होने से तुम धनी व्यक्तियों की तरह सुख और सुविधा-मूलक जीवन बिता सकती हो, पर उससे अमरता प्राप्ति की आशा नहीं की जा सकती।"

तब मैत्रेयी ने कहा—"तब संपत्ति को लेकर मैं क्या करूँ? जब वह मुझे अमर करने में असमर्थ है, तो वह मेरे लिये व्यर्थ है। भगवन्! आप मुझे संपत्ति देने के बदले ऐसा उपाय बताइए जिससे मैं अमरता के पथ पर पाँव रख सकूँ।"

याज्ञवल्क्य बोले—"मैत्रेयी, तुम मुझे पहले भी प्रिय थीं, और इस समय भी तुमने बड़ी ही प्रिय बात कही है। मैं तुम्हें अमरत्व की प्राप्ति का उपाय बताता हूँ। ध्यान देकर सुनो।

"स्त्री को पति पति के लिए प्रिय नहीं लगता; आत्मा के लिये ही पति प्रिय लगता है। पति को पत्नी पत्नी के लिये प्रिय नहीं लगती; आत्मा के लिये ही पत्नी प्रिय लगती है। माता-पिता को पुत्रों के लिए पुत्र प्रिय नहीं लगता; आत्मा के लिये ही वे प्रिय लगते हैं। संपत्ति के लिये संपत्ति प्रिय नहीं लगती आत्मा के लिये ही संपत्ति प्रिय लगती है। पशुओं के लिये पशु प्यारे नहीं लगते; बल्कि आत्मा के लिए पशु प्यारे लगते हैं। लोकों के लिए लोक प्रिय नहीं लगते; बल्कि आत्मा के लिये ही लोक प्रिय लगते हैं। देवताओं के लिये देवता प्रिय नहीं लगते; बल्कि आत्मा के लिये देवता प्रिय लगते हैं। वेदों के लिये वेद प्रिय नहीं लगते; बल्कि आत्मा के लिये ही वेद प्रिय लगते

हैं। प्राणियों के लिये प्राणी प्रिय नहीं लगते; बल्कि आत्मा के लिये ही प्राणी प्रिय लगते हैं। सबके लिये सब प्रिय नहीं लगते; बल्कि आत्मा के लिये ही सब प्रिय लगते हैं। इसलिये हे मैत्रेयी! आत्मा ही ऐसी है जो देखने योग्य है, सुनने योग्य है और समझने योग्य है। इसे जान लेने पर विश्व में सब कुछ समझ में आ जाता है।

"ब्राह्मण को चाहिये कि उस व्यक्ति का बहिष्कार करे जो ब्राह्मण-जाति को अपनी आत्मा से कुछ भी भिन्न मानता है; क्षत्रिय को चाहिये उस व्यक्ति का बहिष्कार करे जो क्षत्र-जाति को अपनी आत्मा से कुछ भी भिन्न समझता है; संसार को चाहिये कि उस व्यक्ति का बहिष्कार करे जो संसार को अपनी आत्मा से कुछ भी भिन्न समझता है; देवताओं को चाहिये कि वे उस व्यक्ति का बहिष्कार करें जो उन्हें अपनी आत्मा से कुछ भी भिन्न समझता है; समस्त विश्व को चाहिये कि उस व्यक्ति का बहिष्कार कर दे जो विश्व को अपनी आत्मा से भिन्न समझता है; आत्मा ही ब्राह्मण है, वही क्षत्रिय है, वही संसार है, वह देवता है और वही विश्व है।

"जिस प्रकार ढोल अथवा शंख अथवा वीणा की आकृति और प्रकृति से अपरिचित कोई व्यक्ति जब दूर से ढोल या शंख या वीणा का शब्द सुनता है, तो पहचान नहीं पाता कि यह शब्द किस वस्तु के आघात से उत्पन्न हो रहा है, पर जब वह ढोल या शंख या वीणा को देख लेता है, तो समझ जाता है कि वह किस वस्तु से और कैसे उत्पन्न हुआ, उसी प्रकार आत्म-तत्त्व से अपरिचित व्यक्ति जब आत्मा से उद्‌भूत शब्द, स्पर्श, रूप, रस,

गंधमयी सृष्टि के नाना रूपों को देखता है, तो नहीं जान पाता कि उन सबका मूल कारण क्या है। पर आत्म-तत्त्व से परिचित हो जाने पर वह जान लेता है कि उनकी उत्पत्ति किस तत्त्व से, कैसे और क्यों हुई।

"जिस प्रकार गीली लकड़ी के जलने पर उससे तरह-तरह का धुआँ और तरह-तरह की चिनगारियाँ निकलती रहती हैं उसी प्रकार इस आत्मा-रूपी महान् प्राणी (महत् भूत) की साँस से ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, आंगिरस, इतिहास-पुराण, विद्या, उपनिषद्श्लोक, सूत्र, अनुव्याख्यान (भाष्य) आदि निकलते रहते हैं।

"जिस प्रकार सब प्रकार के जलों का एकमात्र आशय समुद्र है, सब प्रकार के स्पर्शों का एकमात्र आधार त्वचा (चमड़ा) है, सब प्रकार के रसों का एकमात्र आधार जीभ है, सब प्रकार के गंधों का एकमात्र अनुभूति-स्थल नाक है, सब प्रकार के रूपों का एकमात्र अवलंब आँखें हैं, सब प्रकार के शब्दों का एकमात्र आधार कान हैं, सब प्रकार के संकल्पों का एकमात्र मूलस्थान मन है, सब प्रकार के ज्ञान का एकमात्र आधार हृदय है, सब प्रकार के कर्मों का एकमात्र कर्ता हाथ है, सब प्रकार की गति का एकमात्र आधार पाँव हैं, सब प्रकार के वेदों का एकमात्र आधार वाणी है, उसी प्रकार वह मूल पुरुष (आत्मा) इन सबों का एकमात्र आधार है।

"जिस प्रकार नमक का एक टुकड़ा पानी में पड़ने पर पानी में घुल जाता है, और कोई भी केवल आँखों से देखकर यह नहीं बता सकता कि उस जल में नमक मिला हुआ है, और चखने पर भी कोई यह नहीं बता सकता

कि वह नमक का टुकड़ा जल के किस विशेष भाग में मिला है (क्योंकि उस नमक मिले पानी का कोई भी अंश पिया जाय वह नमकीन ही लगेगा, और नमक के टुकड़े का कहीं कोई पता नहीं लगेगा), उसी प्रकार इस महान् आत्मा को भी समझो। जल और नमक की तरह वह समस्त विश्व के अणु-परमाणु में मिला हुआ है और समस्त विश्व का अणु-परमाणु उससे मिला हुआ है। वह अनंत है, न उसका कोई अन्तर है न बाह्य, वह स्वतंत्र सत्ता है, वह विशुद्ध ज्ञान की अनुभूतिमय आत्मा है। जीव पंचतत्त्वों से उद्‌भूत होता है, और उन तत्त्वों के नष्ट होने पर स्वयं भी नष्ट हो जाता है। मृत्यु के बाद उसकी संज्ञा (चेतना) जाती रहती है। हे मैत्रेयी) ऐसा मेरा मत है।"

मैत्रेयी ने कहा—"भगवन् ! आपने यह कहकर कि मृत्यु के बाद संज्ञा जानी रहती है, आत्मा के सम्बन्ध में आपने मुझे भ्रम में डाल दिया है। मैं ठीक से कुछ समझी नहीं। कृपया फिर समझाइए।"

याज्ञवल्क्य बोले—"मैंने भ्रम में डालने की कोई बात तुमसे नहीं कही है। पहले मेरी बात पूरी तरह से सुन लो। मैंने मृत्यु के बाद केवल उस संज्ञा के नष्ट होने की बात कही है जो पंचभूतों के मेल से उत्पन्न होती है। पर जीव की आत्मा मरने पर भी नष्ट नहीं होती। यह अविनाशी, अजर, अमर और अद्वैत है। यह सर्वत्र, सब देशों में, सब काल में, सब वस्तुओं में एकरूप में विराजमान रहती है।"

"जहाँ द्वैत भाव रहता है वहाँ व्यक्ति भिन्न-भिन्न

वस्तुएँ देखता है। भिन्न-भिन्न प्रकार की गंधों का आभास पाता है, भिन्न-भिन्न रसों का स्वाद ग्रहण करता है, भिन्न-भिन्न शब्दों को सुनता है, भिन्न-भिन्न विषयों को सोचता रहता है। पर जिस व्यक्ति के लिये सब कुछ आत्मा के रूप में व्यक्त हो उठता है, वह किस प्रकार भिन्न-भिन्न वस्तुएँ देख सकता है, भिन्न-भिन्न गंधों का अनुभव कर सकता है, भिन्न-भिन्न रसों को ग्रहण कर सकता है, भिन्न-भिन्न शब्दों को सुन सकता है, और भिन्न-भिन्न विषयों को सोच सकता है ? वह तो सब रूपों में, सब रसों में, सब गंधों में आत्मा के एकत्व का अनुभव करता है। वह कैसे यह कह सकता है कि 'मैं उस आत्मा को जान गया हूँ।' जो एकमात्र जानने-वाला है उसे कोई कैसे जान सकता है ?

"यह आत्मा न यह है न वह। यह आहस्त्य है, कोई इसे पकड़ नहीं सकता, यह अशीर्य है, इसका छीजन नहीं होता; यह असंग है, किसी से यह लिप्त नहीं होती, न यह पीड़ित होती है न इसका नाश होता है। हे मैत्रेयी ! उस आत्मा की चिंतना इन्हीं तथ्यों के आधार पर करते रहने से ही अमरता प्राप्त हो सकती है।"

मैत्रेयी को इस प्रकार का उपदेश देकर याज्ञवल्क्य तपस्या के लिये चले गए।